विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक (मानद)
रामबहाल तिवारी

सह सम्पादक
चक्रधर त्रिपाठी

खण्ड ४३-४५
अंक १-४+१-४

चैत्र २०५९ - फाल्गुन २०६०
अप्रैल २००२ - मार्च २००४

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य— इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्विचित्र-विद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। सम्पादक-मण्डल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है, जिनकी रचनाएँ और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है, परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त-पत्र व्यवहार करने का पता :

सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका,
हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, प० बं०
७ ३ १ २ ३ ५।

हलवासिया शोध ग्रन्थमाला

सम्पादक : रामबहाल तिवारी

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट, कलकत्ता ने ट्रस्ट के संस्थापक विश्वेश्वरलाल हलवासिया की जन्मशतवार्षिकी (सन् १९७०) के अवसर पर हिन्दी में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए विश्वभारती को आर्थिक अनुदान दिया था। उस अनुदान तथा विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की आर्थिक सहायता से ग्रन्थमाला का कार्य आरंभ हुआ।

प्रकाशित ग्रन्थ :

दिव्य-प्रबंध—तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त 'अल्वारों की वाणियाँ' (तमिल वेद) आठ भागों में समाप्त। भारतीय भक्ति धारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद।

ग्रन्थांक-१.	दिव्य-प्रबन्ध-भाग-१ संत विष्णुचित्त (पेरियाल्वार) की रचनाएँ	मूल्य २५ रुपये।
ग्रन्थांक-२.	वज्रयानी सिद्ध सरहपाद—प्रथम बौद्ध सिद्ध सरहपाद पर प्रमाणिक ग्रन्थ—डॉ० द्विजराम यादव	मूल्य ३५ रुपये।
ग्रन्थांक-३.	मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन —डॉ० देवनाथ चतुर्वेदी	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-४.	दिव्य-प्रबंध—भाग २, संत आण्डाल (गोदा), कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, तथा मधुर कवि की रचनाएँ	मूल्य ३५ रुपये।
ग्रन्थांक-५.	दिव्य-प्रबंध—भाग ३, संत परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-६.	दिव्य-प्रबंध—भाग ४, संत परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-७.	इतालवी व्याकरण—इतालवी भाषा का हिन्दी में प्रथम व्याकरण —डॉ० एदमोन्दो आन्देरलीनी तथा रामसिंह तोमर	मूल्य ७० रुपये।
ग्रन्थांक-८.	दिव्य-प्रबंध—भाग ५—संत शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-९.	दिव्य-प्रबंध—भाग ६, संत शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-१०.	दिव्य-प्रबंध—भाग ७, संत कासार, संत भूत, संत वेताल तथा संत भक्तिसार की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-११.	दिव्य-प्रबंध—भाग ८, संत शठकोप, संत परकाल तथा श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-१२.	आधुनिक कविता में राष्ट्रीय चेतना, लेखिका—प्रो० ऊ जो किम (दक्षिण कोरिया)	मूल्य १५० रुपये।
ग्रन्थांक-१३.	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम (भाग-१)	मूल्य १२५ रुपये।
ग्रन्थांक-१४.	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम् (भाग-२)	मूल्य १५० रुपये।

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र - २०५९ - फाल्गुन २०६० खंड - ४३-४४ अंक ४+४ अप्रैल - २००२ - मार्च - २००४

विषय-सूची

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम में)

अजय परमार
इतिहास विभाग, गढ़वाल विश्वविद्यालय
स्वामी रामतीर्थ परिसर
बादशाही थौल, टिहरी गढ़वाल (249-199)
उत्तरांचल

अनुप प्रताप सिंह
अन्तू रोड, वाई-10
अमेठी-सुलतानपुर(226405)
उत्तरप्रदेश

आसिफ़ रोहतासवी
हिन्दी विभाग, सायंस कॉलेज
पटना विश्वविद्यालय (पटना-5)

कमल किशोर गोयनका
ए-98, अशोक विहार, फैज, प्रथम,
दिल्ली-110052

किशनराम बिश्नोई
प्रभारी, गुरु जंभेश्वर विश्वविद्यालय,
हिसार-125001

कैलाश चन्द्र भाटिया
नंदन, भारती नगर, मैरिस रोड
अलीगढ़-202001
उत्तर प्रदेश

चक्रधर त्रिपाठी
रीडर, हिन्दी विभाग
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

प्रताप कुमार मिश्र
कनिष्ठ शोधप्रज्ञ, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रेमकली शर्मा
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला-संकाय,
डी० ई० आई० (डीम्ड विश्वविद्यालय)
दयालबाग, आगरा-5

शेर सिह बिष्ट
हिन्दी विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय,
अल्मोड़ा-263601
उत्तरांचल

हरिशंकर मिश्र
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

ज्ञान प्रकाश महापात्र
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
सामंत चन्द्रशेखर कॉलेज, पुरी,
उडीसा

हिन्दी त्रैमासिक 'विश्वभारती पत्रिका'

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स फार्म-चार, नियम-संख्या आठ के अनुसार विवरण

१.	प्रकाशन का स्थान	:	शान्तिनिकेतन, जिला-बीरभूम, प० बंगाल।
२.	प्रकाशन की आवृत्ति	:	त्रैमासिक।
३.	प्रकाशक	:	सुनील सरकार रजिस्ट्रार, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।
४.	मुद्रक का नाम	:	शान्तिनिकेतन प्रेस, शान्तिनिकेतन।
५.	संपादक	:	रामबहाल तिवारी (मानद)
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय,
	पता	:	शान्तिनिकेतन, जिला-बीरभूम, प० बंगाल।
६.	स्वामित्व	:	विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, प० बंगाल।

मैं सुनील सरकार यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गये तथ्य मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

सुनील सरकार
रजिस्ट्रार
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

विश्वभारती पत्रिका के संग्रहणीय महत्त्वपूर्ण विशेषांकों की सूची

१. **महात्मा गान्धी जन्मशती विशेषांक**
मूल्य - १२ रु०
चित्रों की संख्या - १४

२. **चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रूज़ जन्मशती (१८७१ - १९७१ ई०) विशेषांक**
मूल्य - १० रु०
चित्रों की संख्या - १३

३. **मानस चतुश्शती अंक**
मूल्य - १० रु०
चित्रों की संख्या - १

४. **पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक**
मूल्य - १२ रु०
चित्रों की संख्या - ३

५. **रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक**
मूल्य - १२ रु०
चित्रों की संख्या - ७

६. **सूर-पंचशती विशेषांक**
मूल्य - १२ रु०

७. **रवीन्द्र-विशेषांक**
मूल्य - ८ रु०
चित्रों की संख्या - ५

८. **पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक**
मूल्य - ८ रु०
चित्रों की संख्या - १७

९. **मध्ययुग परिचयात्मक हलवासिया अंक**
मूल्य- १५ रु०
चित्रों की संख्या - २५

पाठकों से अनुरोध है कि उक्त विशेषांकों की प्राप्ति-हेतु सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका, हिन्दी से सम्पर्क करें। डाकखर्च प्राप्तकर्त्ता को वहन करना होगा।

प्राप्तिस्थान :
सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दी भवन
पो० आ० शान्तिनिकेतन
प० बं० ७३१२३५

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र २०५९ भाद्र २०५९ खण्ड ४३ अंक १-२ अप्रिल २००२ - सितम्बर २००२

गल्पसल्प

ओकालती ब्यबसाये क्रमशइ तार

-रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओकालती ब्यबसाये क्रमशइ तार
जमेछिल एकदिन मस्त पसार।
भाग्यटा घाटे-घाटे की करिया शेषे,
एकदा जजेर पदे ठेकेछिल एसे।
सदाइ बाड़िते तार महा धुमधाम,
मुखेमुखे चारिदिके रटे गेछे नाम।
आज से तो कालीनाथ, आगे छिल केले,—
काउके फाँसिते देय, काउके बा जेले।
क्लासे छिल एकदिन एकेबारे निचु,
मास्टार बलतेन हबे नाको किछु।
सब चेये बोकाराम, सबचेये हाँदा,—
दुष्टुमि वुद्धिटा छिल तार साधा।
क्लासे छिल बिख्यात तारि दृष्टान्त
सेइ इतिहास तार सकलेइ जानत।
एकदिन देखा गेल छुटिर बिकाले,
फलेभरा आमगाछे एका बसि डाले—
कामड़ लागाते छिल पाका पाका आमे—
डाक पाड़े मास्टार किछुते ना नामे।
आम पेड़े खेते तोरे करेछि बारण,
से कथा शुनिस ने जे बल् की कारण।
कालू बले, पेड़े आमि खाइने तो ताइ,
डाले बसे बसे फल कषे कामड़ाइ।
मास्टार बले तारे, आय तुइ नाबि,—
यत फल खेयेछिस तत चड़ खाबि।

कालू बले, पालियाछि गुरुर आदेश,
एइ शास्तिइ तार हय यदि शेष,
ता हले तो भालो नय पड़ाशुना करा—
गुरुर बचन शुने चड़ खेये मरा॥

[रवीन्द्ररचनावली अष्टाविंश खंड (१९९५), पृ० ४२-४३]

हिन्दी अनुवाद

गल्पसल्प

वकालती व्यवसाय में

वकालती व्यवसाय में धीरे-धीरे यार,
जम उठा उसका अच्छा प्रसार।
घाट-घाट पानी पी, न जाने कैसे,—
जज-पदासीन हुआ भाग्य के बल से।
सदा ही लगा है घर में महा धूम-धाम,
जबानी ही चारों ओर फैल गया नाम।
आज का यह कालीनाथ, कल था जो कलुआ,
किसी को देता है फाँसी, किसी को जेलभरुआ।
क्लास में था सब से नीचे और गया-गुजरा,
मास्टर कहते, कुछ भी न होगा, बड़ा है तू मुजरा।
सब से बुड़बक था वह, बुद्धुओं का सैनी,
बदमाशी बुद्धि उसकी थी बड़ी ही पैनी।
पर क्लास में उसीका चलता था रोब,
वह इतिहास उसका जानते सब लोग।
छुट्टी की दुपहरिया थी, बगीचे में पैठ,
फल से भरे आम की डाली पर बैठ,
काट-काट खा रहा था, पके-पके आम,
बुलावें कितने मास्टर, पर उतरने का न नाम।
किया था मना, आम-तोड़ खाना, भूल गया ढोल,
कहा नहीं मानता है, चाहता क्या बोल?
कालू बोला, तोड़ कर कहाँ खाता आम?
डाली बैठ दाँतों से ही करता काम तमाम।

मास्टर बोले—उतर नीचे, खाये आम जितने,
गिन-गिन कर खायेगा-थप्पड़ भी उतने।
कालू बोला—माना है गुरु का आदेश,
उसके लिए यह दंड-विचार-ही शेष!
तब तो अच्छा नहीं है—लिखना व पढ़ना,
गुरु के वचन मान, थप्पड़ खा-मरना॥

[—रवीन्द्ररचनावली (वि० भा०) २८ वाँ खंड (१९९५) पृ० ४२-४३]

———

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में पर्यावरण

—*शेर सिंह बिष्ट*

पर्यावरण

'पर्यावरण' शब्द 'परि' उपसर्ग के साथ 'आवरण' शब्द के संयोग से बना है। 'परि' का अर्थ है— चारों ओर, इर्द-गिर्द या परिधि आदि। 'आवरण' का अर्थ है — आच्छादन, किसी वस्तु पर लपेटा गया वस्त्र तथा घेरा आदि। 'पर्यावरण' का शाब्दिक अर्थ है— वातावरण, किसी व्यक्ति या विषय की परिस्थिति। 'पर्यावरण' शब्द अंग्रेजी के 'इनवायरनमेंट' (Environment) शब्द का पर्याय है।[१] इस तरह हमारे चारों ओर के आवरण, वातावरण एवं सजीव-निर्जीव घटकों के सम्मिलित रूप का नाम ही 'पर्यावरण' है। प्रो० ए० एन० पुरोहित के शब्दों में— 'पर्यावरण' विभिन्न आत्मनिर्भर घटकों— सजीव एवं निर्जीव के मध्य सामंजस्य एवं पूर्णता (प्रकृति) की अवधारणा है।[२] पर्यावरण का निर्जीव घटक पाँच उपघटकों— क्षिति (मिट्टी), जल, पावक (ऊर्जा), हवा (पवन) तथा अंतरिक्ष (गगन) में बँटा है, जबकि सजीवों के अनेक उपघटक हैं। प्रकृति में सजीव एवं निर्जीव दोनों समाहित हैं। सजीव घटक में मनुष्य, जीव-जंतु एवं समस्त प्राणिजगत् आता है। समस्त जैविक एवं अजैविक तत्त्व प्रकृति में सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक अन्तर्सम्बंधों के आधार पर ही इस भूमंडल के पर्यावरण का निर्माण करते हैं। जहाँ इनमें अन्तर्विरोध या असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होती है, वहाँ पर्यावरण में असंतुलन की समस्या पैदा हो जाती है तथा एक घटक में हुआ परिवर्तन, अन्य घटकों में शृंखलाबद्ध परिवर्तन पैदा कर देता है। सजीव-निर्जीव के अतिरिक्त मानव-निर्मित समस्त वस्तुएँ भी पर्यावरण के अंग हैं, जिनसे हमारा जीवन-चक्र सुचारु रूप से चलता है।

मानव और पर्यावरण

मानव एवं पर्यावरण का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन मनुष्य को प्रकृति से ही प्राप्त होते हैं। भोजन, आवास तथा वस्त्रादि के अतिरिक्त अपनी अन्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अपने क्षेत्र में सुगमतापूर्वक मिल सकने वाली वस्तुओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। हमारे चारों ओर की धरती जीव मात्र को आश्रय देती है। जिन पाँच भौतिक तत्वों से यह मानव शरीर निर्मित है, उनमें से एक के अभाव में भी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। वायु, वर्षा, जल, भूमि, वनस्पति, पेड़-पौधे, वन्य-जीव, सूर्य की रोशनी, पर्वत-पहाड़-नदी-तालाब-झील-समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, कीटाणु आदि सभी मिलकर पर्यावरण की संरचना करते हैं। प्रकृति में इन सबकी मात्रा और रचना कुछ इस प्रकार से व्यवस्थित एवं नियंत्रित है कि धरती पर एक संतुलनमय जीवन, लाखों-करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है। संतुलित

पर्यावरण का ताना-बाना ही पृथ्वी पर जीवन-प्रक्रिया ठीक से चलाने में मदद करता है।

मानव एक बौद्धिक प्राणी है। अतः अपनी बुद्धि के बल पर वह प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग अपने सुखोपभोग के लिए करता है। वैज्ञानिक विकास एवं तकनीकी ज्ञान के बल पर तेजी से जो औद्योगिकीकरण हुआ है, उसके चलते मनुष्य दैहिक एवं भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए प्राकृतिक संसाधनों के अधिकतम दोहन में लगा हुआ है। लेकिन यदि हम प्रकृति का दोहन करते रहें और उसके हरे दुपट्टे को छीनते चले जाएँ, तो वह नग्न होती चली जाएगी और हम उसके वृक्षों की छाँह, फल, ईंधन, वर्षा, पानी, पशु-चारा आदि तमाम चीजों से भी वंचित होते चले जाएँगे। इसी कारण भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में प्रकृति को शक्तिरूपा, मानव-सहचरी व 'माँ' माना गया है। इस पृथ्वी को 'धरती माता' के नाम से पुकारा जाता है। भारत देश को 'भारत माता' कहा जाता है। अतः हमारी संस्कृति में दो माताएँ मानी गयी हैं— एक जन्मदात्री और दूसरी जन्मभूमि और दोनों को स्वर्ग से भी बढ़कर माना गया है— 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'[१] हमारे पूर्वजों, ऋषि-मुनियों ने कभी इस जन्मभूमि व प्रकृति को अपने से अलग करके नहीं देखा। प्रकृति के साथ जीव मात्र का आधार-आधेय संबंध है। यदि आधार ही नहीं होगा तो उस पर कोई वस्तु कैसे टिकी रह सकती है। प्राणी मात्र का जीवन हवा में तो नहीं टिक सकता? पशु-पक्षी, वन्य जीव-जंतु एवं वृक्ष आदि भी पूर्ण रूप से अपने जीवन के लिए प्रकृति तथा पर्यावरण पर अवलंबित रहते हैं।

मनुष्य प्रकृति को अपने अनुसार नहीं ढाल सकता, वरन् उसे प्रकृति के अनुसार ढलने के लिए विवश होना पड़ता है। अतः मनुष्य को अपने पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कर जीवन निर्वाह करना पड़ता है। मनुष्य न केवल अपने पर्यावरण से प्रभावित होता है, अपितु एक सीमा तक अपने कृत्यों से पर्यावरण को भी प्रभावित करता है। अतः पर्यावरण में यत्किंचित् रूप से होने वाले परिवर्तनों से मनुष्य अछूता नहीं रह सकता। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा दोनों को साथ-साथ रहना है।

संस्कृति एवं पर्यावरण

मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन के स्वरूप को निर्धारित करने में पर्यावरण का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यदि हम किसी देश के सांस्कृतिक स्वरूप को जानना चाहते हैं तो उसकी प्राकृतिक परिस्थितियों की जानकारी होना आवश्यक हैं, क्योंकि मनुष्य का जीवन एवं उसके रहन-सहन का स्तर, उसके चारों ओर के पर्यावरण पर ही निर्भर रहता है। भारतवर्ष में ऋषि-परम्परा एवं कृषि-संस्कृति के विकसित होने का मुख्य कारण यह था कि यहाँ की भौगोलिक स्थिति उसके अनुकूल थी। कहने का आशय यह है कि हमारा पर्यावरण, हमारे सांस्कृतिक विकास की दिशा तय करने में अपनी अहम् भूमिका निभाता है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा एवं पर्यावरण

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का शुभारम्भ वनों से ही हुआ है। इसी कारण हमारी प्राचीन संस्कृति 'आरण्यक संस्कृति' या 'तपोवनी संस्कृति' के नाम से जानी जाती है। तपोवनों का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वे जीवन के अभिन्न अंग रहे हैं। हमारे यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत जीवन को चार भागों में बाँटा गया है— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। वानप्रस्थ का अर्थ ही है— वन की ओर प्रस्थान। 'महाभारत' में व्यास जी कहते हैं कि वानप्रस्थ आश्रम में प्रवृत्त तपस्वी को पूर्ण रूप से वन पर ही आश्रित रहना चाहिए। वन ही उसका मित्र हो। होम, यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करते हुए, शेष जीवन भी उसे वन में ही व्यतीत करना चाहिए—

वन नित्ये वनचरैर्वनस्थलनिगोचरेः।
वनं गुरु निवासाय वस्तव्यं वनजीविभिः॥
तेषां होम क्रियाधर्मः पंचयज्ञ निवेषणम्।
भागं च पंचयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम्॥[3]

अर्थात् 'गृहस्थाश्रम की अवधि पूरा होते ही व्यक्ति को अपना शेष जीवन वनों में तपस्यारत होकर व्यतीत करना चाहिए'।

वैदिक काल में जब आर्यों ने नाना प्रकार के पुष्पों, कमल-सरोवरों तथा विविध प्रकार के वृक्षों-वनस्पतियों से सुशोभित आर्यावर्त्त में प्रवेश किया तो वे यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य से अभिभूत होकर मंत्र-मुग्ध हो उठे। वैदिक आर्य प्रकृति के इस मोहक रूप के प्रति इतने आकर्षित हुए कि उन्होंने इस प्रकृति की गोद को ही अपनी आश्रय-स्थली बनाया तथा वन-प्रदेश में ही आश्रम बनाकर, प्रकृति के सान्निध्य का लाभ उठाते हुए, तपोमय जीवन बिताने लगे। भारतीय ऋषि परम्परा का प्रारम्भ इन्हीं वन प्रदेशों से हुआ।

एक ओर हमारी ऋषि-परम्परा तपस्वी जीवन यापित करते हुए आत्मचिंतन द्वारा तत्त्व ज्ञान का प्रकाश चतुर्दिक फैलाते हुए मानव जाति के उद्धार में संलग्न थी, तो दूसरी ओर हमारी कृषि-परम्परा उनके जीवन-निर्वाह व भरण-पोषण के लिए खेती तथा पशुपालन के काम में संलग्न होकर जीवन के कर्म-पथ में निरत थी। इस तरह ऋषि एवं कृषि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के दो महत्वपूर्ण पहलू थे। ये दोनों पहलू प्रकृति से अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे। कृषि संस्कृति की पोषक 'गाय' को 'गौ माता' कहकर पुकारा गया तो जीवनधात्री 'धरती' को 'धरती माता' कहा गया। 'गौ माता' अपने दुग्धपान द्वारा हमारा भरण-पोषण करती है, तो 'धरती माता' हमें अपनी गोद में खिलाती है तथा हमारे पाद-प्रहारों का आघात सहन करती है। इन सबके प्रति हम कृतघ्न कैसे हो सकते हैं? इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

अर्थात् 'धरती मेरी माँ है और मैं उसका (पृथ्वी) का पुत्र हूँ। पुत्र कितने ही अपराध

क्यों न करे, परन्तु माता हमेशा उसके अपराधों की अनदेखी कर, उसे क्षमा कर देती है। इसीलिए कहा गया है—

कुपुत्रो जायते, क्वचिदपि कुमाता न भवति।

अर्थात् पुत्र, कुपुत्र हो सकता है, परन्तु माता कुमाता कभी नहीं होती॥ इसी तरह—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।

अर्थात् 'माता पृथ्वी को प्रणाम है, माता पृथ्वी को प्रणाम है'। यदि हम इस भावना से अनुप्राणित होकर आचरण करें, तो हमारी यह पृथ्वी फिर से हरी-भरी हो सकती है।

हमारे ऋषिगण इतने संवेदनशील एवं कृतज्ञतापरायण हैं कि निर्जीव समझी जाने वाली पृथ्वी के पाद-स्पर्श से भी अपराध-बोध का अनुभव करते हुए, उससे क्षमा याचना करते हैं—

समुद्र वसने देवी, पर्वत स्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पाद स्पर्श क्षमस्व मे॥

अर्थात् विष्णुप्रिये वसुन्धरे! समुद्र आपके वस्त्र एवं पर्वत स्तन हैं। आपको नमस्कार है, मेरे पाद-स्पर्श को क्षमा कीजिए'।

हमारी पुरातन संस्कृति में प्रकृति-प्रेम एवं प्रकृति-संरक्षण की भावना इस तरह से घुली-मिली है कि उसे एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही वजह रही है कि भारतीय मनीषियों ने प्रकृति एवं प्राकृतिक शक्तियों—सूर्य, वायु, जल, वृक्ष, वनस्पति, पृथ्वी, चन्द्रमा, अग्नि आदि को देवता स्वरूप माना है। 'देवता' का तात्पर्य ही है— जो देता है, बदले में कुछ नहीं लेता। इसीलिए वैदिक ऋषि कहता है—

सूर्य देवो भव।

सूर्य अपरिमित ऊर्जा का स्रोत है। उसके बिना इस धरती पर मानव जीवन व वन्य-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः उस जीवनदाता सूर्य से हमारा कभी वियोग न हो, स्तुतिकारक यही कामना करता है—

न सूर्यस्य संदृशे मा युयोथाः।[४]

जड़-चेतन का अस्तित्व सूर्य के कारण ही है अतः उसे आत्मा स्वरूप माना गया है—

सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च।[५]

इस धरती पर सूर्य के ताप एवं प्रकाश से ही जीवन का संचार हुआ। सूर्य की रोशनी में ही वनस्पतियाँ उससे ऊर्जा लेकर आपना भोजन बनाती हैं, जिन पर जीव-जंतुओं का जीवन निर्भर करता है। इसी कारण उपनिषदों में सूर्य को प्राण की संज्ञा दी गई है—

आदित्योह वै प्राणः।[६]

हमारा पंचभौतिक शरीर, जिन पांच तत्वों से बना है, उनमें से किसी एक के भी अभाव में जीवन की कल्पना असंभव है। शरीर बिना ऑक्सीजन के चल नहीं सकता और

प्राण वायु के रूप में शरीर में वास करता है। इसलिए वायु ही प्राण तथा देवता के रूप में स्तुत्य है। उपनिषदों में यही बात कही गयी है—

वायुर्ह वै प्राणो भूत्वा शरीरमाविशत्।

शरीर के तमाम रोगों का निदान योगाभ्यास के द्वारा संभव है, जिसमें प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा श्वास और प्रश्वास की वायुओं को नियंत्रित और नियमित रूप से खींचा और बाहर निकाला जाता है, जिससे ऑक्सीजन शरीर के प्रत्येक हिस्से में प्रविष्ट कर, औषधि का कार्य करती है। इसीलिए वायु को औषधि गुणों से युक्त माना गया है—

आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रूपः
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।[७]

अर्थात् हे वायु! अपनी औषधि ले आओ, और यहाँ से सब दोष दूर करो, क्योंकि तुम ही सब औषधियों से युक्त हो।

इस तरह से प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे लिए हमेशा जीवनोपयोगी रही हैं। इन शक्तियों में दैवीय शक्ति की अवधारणा प्रतिस्थापित कर, यदि वैदिक ऋषियों ने उन्हें धार्मिक आस्था का विषय बनाया, तो वह समीचीन ही था। जब से सृष्टि के इन नाना रूपात्मक शक्तियों के प्रति धार्मिक आस्था का विघटन हुआ है, तभी से पर्यावरण विनाश भी होने लगा है, क्योंकि धर्म का भय समाप्त हो गया है।

वनों एवं वृक्षों का हमारी संस्कृति से इतना गहरा संबंध है कि उन्हें भी वन देवता कह कर पुकारा गया और उनके बारे में अनेक गुणगानभरी प्रशस्तियाँ लिखी गईं। वैदिक ग्रंथों तथा अनुवर्ती साहित्य में वनस्पतियों की प्रशस्ति में अनेक मंत्र मिलते हैं। आयुर्वेदीय ग्रंथों में विविध वनस्पतियों के अंग-उपांगों का सूक्ष्म वर्णन करते हुए, न केवल उनका बखूबी उपयोग दिखाया गया है, अपितु उन्हें देवी-देवताओं के समकक्ष भी प्रतिपादित किया गया है। 'मनुस्मृति' में उल्लेख मिलता है कि प्राचीन भारत में वृक्ष इतने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे कि उन्हें अवैध रूप से काटा जाना 'दण्डनीय अपराध' माना गया। पीपल, बरगद, आम, नीम, जामुन, गूलर, अशोक, पद्म, तुलसी, बेल, अटवला, पाकड़ आदि वृक्षों को पूज्य मानकर, उन्हें धार्मिक कृत्यों से जोड़ा गया। इन वृक्षों को लगाना पुण्य-कर्म तथा काटना पाप-कर्म समझा जाता था। 'गीता' में श्रीकृष्ण भगवान् ने तो स्वयं को पीपल का वृक्ष बताया है—

अश्वत्थः सर्व वृक्षाणां।[८]

इसके अलावा अन्होंने स्वयं को जलाशयों में समुद्र[९] पर्वतों में हिमालय, गायों में कामधेनु[१०], नदियों में भागीरथी[११] आदि कहा है। अर्थात् प्रकृति के नाना रूपों में परम ब्रह्म श्रीकृष्ण की व्याप्ति भी, उन्हें देवत्व की स्थिति प्रदान करती है। बौद्ध मतावलम्बी पीपल की पूजा करते हैं, क्योंकि गौतम ने इसी वृक्ष की शीतल छाया में 'बुद्धत्व' प्राप्त किया था। वैष्णव लोग तुलसी के पौधे को परम पवित्र मानते हैं तथा आँगन में घर के आस-पास तुलसी का पौधा लगाकर नित्य प्रातः उसकी पूजा करते हैं। औषधिपरक दृष्टि से तुलसी

का विशेष महत्व है। यज्ञादि कर्मों में उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी का प्रयोग होता है। मृत व्यक्ति की चिता में चंदन की लकड़ी डाली जाती है। ऐसे ही कुशादि घास का धार्मिक अनुष्ठानादि में प्रयोग होता है।

पर्यावरण संरक्षण भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। यहाँ वृक्ष लगाना हमेशा से पुण्य-कर्म माना जाता रहा है। वृक्षों को इतना अधिक महत्व प्राप्त है कि उन्हें पुत्रवत् समझा जाता है। इतना ही नहीं 'मत्स्य पुराण' में एक् वृक्ष को दस पुत्रों के बराबर माना गया है—

दश पूप-समावापी दशवापी-समोह्रदः।
दश-ह्रद समः पुत्रो, दश पुत्रसमो द्रुम॥

अर्थात् दस कुओं के बराबर एक बावड़ी है, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब है, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र है और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष है।

वृक्षों के प्रति इतना आदर भाव दुनिया की किसी भी संस्कृति में दुर्लभ है। आयुर्विज्ञानियों का कहना है कि संसार में ऐसी कोई भी वनस्पति नहीं है, जो किसी न किसी औषधि के काम न आती हो। अतः वृक्ष हमारे जीवन-रक्षक भी हैं, इसलिए वन्दनीय भी हैं—

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां
धर्मव्यथां वहति शीत भवारूजश्च।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै
वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु॥ —(भामिनी विलासः)

अर्थात् जो वृक्ष फूल-पत्ते व फलों के बोझ को उठाये हुए, धूप की तपन और शीत की पीड़ा सहन करता है तथा पर-सुख के लिए अपना शरीर अर्पित कर देता है, उस वन्दनीय श्रेष्ठ तरु को नमस्कार है।

जिस संस्कृति में वृक्ष देवता-तुल्य व पुत्रवत् समझे जाते हों तथा जहाँ वृक्षों की पूजा होती हो, वहाँ वृक्ष काटे जाने की बात कल्पना से परे है। महाकवि कालिदास ने तो वन के तरुओं को शिव की भुजाएँ कहा है। शिव विश्वमूर्ति हैं, उनकी अनेक भुजाएँ हैं, अतः अनेक तरु भी उनकी भुजाएँ ही कही जाएँगी—

पश्चादुच्चै भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे ग़र पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगिस्तमितनयनं दृष्टिभक्तिर्भवान्या॥[१२]

शिव की भुजारूप तरुओं को काटने से बड़ा पाप और क्या हो सकता है? शकुन्तला बिना वृक्षों को सींचे पानी नहीं पीती थी, आभूषण प्रिय होने पर भी फूलों की कलियाँ नहीं बीनती थी। प्रथम पुष्प आने पर उत्सव मनाती थी—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्येव: कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सव:
सेय याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम॥[१३]

कण्व ऋषि वन देवता नाम से अधिष्ठित तपोवन के वृक्षों से आग्रह करते हैं कि वे शकुन्तला को ससुराल जाने की आज्ञा दें। हमारे पूर्वज वृक्षों को कितना प्यार करते थे, इसका प्रमाण प्राचीन साहित्य में यत्र-तत्र देखने को मिलता है, जहाँ कृष्ण के साथ कदम्ब तथा सीता के साथ लाल पुष्पों वाले अशोक वृक्ष का वर्णन मिलता है। कालिदास का साहित्य तो वृक्षों के अनुपम सौंदर्य एवं प्रकृति की अद्‌भुत छटाओं से भरा पड़ा है। उनके काव्य में भारत की भिन्न-भिन्न भौगोलिक स्थितियों के अनुरूप नानाविध वृक्षों की दशाओं का इतना सूक्ष्म वर्णन मिलता है, जिसे देखकर लगता है कि उन्होंने नर्मदा नदी के तटवर्ती वनों से लेकर हिमालय में गंगोत्री तक के जंगलों का अवश्यमेव भ्रमण किया होगा। वृक्षों एवं वनस्पतियों के संबंध में कालिदास का गूढ़ वानस्पतिक ज्ञान, प्रकृति एवं वनस्पतियों के प्रति उनके प्रगाढ़ प्रेम का सूचक है। इसी तरह बाण भट्ट ने भी 'कादम्बरी' एवं 'हर्षचरित' में अलग-अलग ऋतुओं में खिलने वाले पुष्पों, प्रकृति के नाना रूपों तथा वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन किया है।

आर्यों को वृक्षों एवं प्रकृति से कितना प्रेम था, इसके साक्ष्य आज भी पुरातात्विक सामग्री में जहाँ-तहाँ देखने को मिलते हैं। भरहुत, मथुरा और साँची की मूर्तियों में अशोक, कदंब, पीपल आदि के वृक्षों के साथ यक्षिणियों व अप्सराओं के शृंगारपरक मोहक चित्र एवं सुंदर वाटिकाओं के दृश्य भरे पड़े हैं। परवर्ती साहित्य में वृक्षों, वनस्पतियों एवं पुष्पों के प्रति अनन्य प्रेमजनित सौंदर्य भावना तथा उनके प्रति धार्मिक आस्था का वर्णन देखने को मिलता है, जो केवल काव्यात्मक चित्रण मात्र न होकर, तत्युगीन भारत की भौगोलिक स्थिति, अपार वन संपदा एवं भारतीय संस्कृति का चित्र भी प्रस्तुत करता है।

वृक्षों-वनस्पतियों के बारे में हमारे ऋषि-मुनियों को इतना गहरा ज्ञान था कि उन्हें उनके स्वभाव व प्राकृतिक स्थिति की पूरी जानकारी रहती थी। पुराणों में यहाँ तक बताया गया है कि जहाँ पर गन्ने की गाँठ जैसी घास हो, वहाँ पृथ्वी के नीचे जल-स्रोत होना चाहिए। ऐसे ही जहाँ पीले मेढ़क पाए जाते हों, पीली पथरीली चट्टानें मिलती हों, वहाँ पर भी खोदने पर निर्मल जल की प्राप्ति होनी चाहिए। 'विष्णु पुराण' वगैरह में यहाँ तक कहा गया है कि पीपल, वट आदि वृक्षों को काटने वाले को अमुक-अमुक नरक की प्राप्ति होती है। वैदिक ऋषि मेढक की स्तुति करता है क्योंकि उसका विश्वास था कि मेढक के टर्राने से वर्षा होती है। कहा जाता है कि पपीहे की 'पिऊ-पिऊ' से बादल वर्षा करते हैं। हमारी संस्कृति में निहित ये सब बातें हमें पर्यावरण-संरक्षण के प्रति प्रारम्भ से ही शिक्षित एवं सचेत करती रही हैं। वृक्षों के बाद जल का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। आज कहा जाता है— 'जल ही जीवन है।' भारतीय संस्कृति में तो जल को भी देवता

कहा गया है। हमारी संस्कृतियाँ नदियों के किनारे से ही उपजीं और वहीं से विस्तार पाती गईं। सरिताओं को जीवनदायिनी कहा गया है। हमारी पुरातन संस्कृति में स्वच्छ पेय जल की प्राप्ति के लिए वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है—

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु।[१४]

इसीलिए नदियों, तालाबों व पोखरों आदि में मल-मूत्रादि विसर्जन को पाप कर्म समझा गया है—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वाष्ठोवनं समुत्सृजेत।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥[१५]

अर्थात् पानी में मल-मूत्र, थूक अथवा अन्य दूषित पदार्थ, रक्त या विष का विसर्जन न करें।

जल-प्रदूषण के प्रति इतनी जागरूकता, आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व हमारी संस्कृति में देखने को मिलती है। जल की गुणवत्ता का भी हमारे ऋषियों को पूरा ज्ञान था; इसीलिए कहा गया है—

नीपानादुद्घृतं पुण्यं ततः प्रस्तरणोदकम्।
ततोऽपि सरसो वारि ततो नादेयमुच्यते॥
तीर्थं तोयं ततः पुण्यं गंगा तोयं ततोऽधिकम्।

अर्थात् कुँए के जल से झरने का, झरने से तालाब का, तालाब से नदी का, नदी से तीर्थ का और तीर्थ से भी गंगा का जल श्रेष्ठ हैं।

गंगा स्वयं में भारतीय संस्कृति की अविरल प्रवाहित धारा है। उसकी महिमा का गुणगान प्राचीन काल से होता आ रहा है। गंगा के विषय में यहाँ तक कहा जाता है कि उसके दर्शन मात्र से मुक्ति मिल जाती है—

गंगे! तव दर्शनात् मुक्तिः।

गंगा-स्नान से न जाने अब तक कितने ही महापापियों का उद्धार हो चुका है। परन्तु खेद का विषय है कि यही गंगा आज सबसे अधिक प्रदूषित हो चुकी है। भारतीय साहित्य में गंगा-महात्म्य का वर्णन अनेक कवियों द्वारा भी विविध रूपों में हुआ है।

गंगा को सुरसरिता कहा जाता है, जिसे पापियों का उद्धार करने के लिए भगीरथ अपनी कठोर तपस्या से इस धरती पर लाने में सफल हुए थे। पेय जल, सिंचाई व विद्युत उत्पादन की दृष्टि से तो गंगा का आर्थिक महत्व है ही, परन्तु उसका सर्वाधिक महत्व सांस्कृतिक दृष्टि से है। वह भारत की अनवरत बहने वाली सांस्कृतिक सरिता भी है, जिसका माहात्म्य एवं गुणगान भारत के प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में देखने को मिलता है। गंगा के तट पर स्थित तीर्थस्थल तो हमारी धार्मिक आस्था के केन्द्र हैं ही, उसके अलावा कई अन्य नदियों के तटों व संगम-स्थलों पर स्थित तीर्थस्थानों का भी इतना अधिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व है कि उन्हें हमारी संस्कृति में मोक्ष प्रदान करने वाला माना गया है—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांचि: अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता: मोक्षदायिका: ॥

ये ही वे तीर्थस्थल हैं जहाँ हमारी बहुरंगी सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं।

भगवान् महावीर के उपदेशों और उनके द्वारा निर्देशित जीवन-पद्धति में पर्यावरण-सुरक्षा और शुद्धता इस सीमा तक आवश्यक मानी गई है कि वह धर्म का अंग हो गई। भगवान् महावीर के उपदेशों के दो मुख्य विषय थे-१. आत्मदर्शन (तत्त्वज्ञान) २. सदाचार का उपदेश। प्रत्येक श्रावक जीवन में अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करने के लिए इस तरह चिंतन करता है— "जहाँ-जहाँ, जब-जब मैं जमीन खोदता हूँ, पेड़-पौधे उखाड़ता हूँ, घास का दलन करता हूँ और जल बहाता हूँ, अकारण फल-फूल को तोड़ता हूँ, तलवार, धनुष आदि हथियार चलाता हूँ, अग्नि, विष आदि का उपयोग करता हूँ, इन्हें दूसरों को देता हूँ— यह सब हिंसा के कार्य हैं, मेरी भावना है कि मैं इसे छोड़ूँ।" पर्यावरण को किसी भी तरह से नुकसान पहुँचाना, जहाँ अधर्म माना जाता हो, वह हमारी प्राचीन संस्कृति पर्यावरण-संरक्षण के प्रति कितनी जागरूक थी, इस का अनुमान लगाया जा सकता है।

भारतीय साहित्य में पर्यावरण

आधुनिक युग में परस्थिति विज्ञान (Ecology) के अंतर्गत पर्यावरण का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से जिस तरह का अध्ययन किया जा रहा है, उस तरह का पर्यावरण विषयक वैज्ञानिक अध्ययन प्राचीन भारतीय साहित्य में देखने को नहीं मिलता, परन्तु पर्यावरण के अंतर्गत जिन तत्त्वों का अध्ययन किया जाता है तथा पर्यावरण-संरक्षण व विकास के बारे में जो बातें कही जा रही हैं, उन सबके बारे में बहुत कुछ जानकारी एवं पर्यावरण विषयक पर्याप्त विमर्श प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होता है। इसी कारण पर्यावरण सुरक्षा एवं संतुलन को धार्मिक आधार प्रदान कर, उसे हमारे जीवन के अनिवार्य अंग के रूप में वर्णित किया गया है। भारतीय साहित्य के कुछ चुनिंदा महान् ग्रंथों में उपलब्ध पर्यावरण विषयक सामग्री एवं चिंतन का निरूपण संक्षेप में निम्नवत् किया जा रहा है—

ऋग्वेद

'ऋग्वेद' में पर्यावरण से सम्बंधित विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों का मानवीय संवेदना के धरातल पर विविध रूपों में वर्णन मिलता है तथा उन्हें हमारी धार्मिक भावनाओं से जोड़कर,अप्रत्यक्ष रूप से उनके संरक्षण एवं संवर्द्धन को मानवीय कर्तव्य के रूप में निरूपित किया गया है। 'ऋग्वेद' में लिखा है कि आकाश को पिता, पृथ्वी को माता, चन्द्रमा को भाई तथा अखण्ड प्रकृति को बहन-तुल्य प्रेम और सौहार्द देना चाहिए—

द्यौर्व: पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादिति स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठेतेलयता सु कम् ॥[१६]

यदि प्रकृति के नाना पदार्थों को हम आदर भाव दें और उन्हें जीवन का अंग मानकर, नष्ट न होने दें तो वे हमारे लिए वरदान सिद्ध होंगे। इसीलिए सलाह दी गई है कि प्रकृति

के शाश्वत नियमों का आदर करो, वे बड़ी मधुरता से जीवन में सहायक होते हैं—

ऋतेन ऋतं नियतमीक आ गोरामा सचा मधुयत्यक्रमग्रे।
कृष्णा सती रूशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥[१७]

पृथ्वी को माता स्वरूपा मानकर, उसकी स्तुति करते हुए कहा गया है—

उच्छ वञ्चस्व पृथिवी मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येन भूम उर्णहि॥[१८]

अर्थात् हे पृथ्वी माता! हमें सोत्साह उत्तम मार्ग की ओर ले चल। तू हमें पीड़ा न दे। हमारे लिए सुखदायी बन। हे सर्वोत्पादिके! जैसे माता पुत्र को अपने आँचल से ढकती है, वैसे ही तू भी रक्षक बन।

समस्त मानव प्राणियों के जीवन का आधार यह धरती माता ही है, उसी की गोद में पलकर बढ़कर सभी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। हमें जीवन में जो कुछ भी उपलब्ध होता है, वह सब पृथ्वी की कृपा से ही। इस संसार में अच्छे-बुरे मनुष्यों का संसर्ग भी उसी की देन है—

इं सा भूया उषसामिव क्षा यद्ध क्षुमन्तः क्षवसा समायन्।
अस्य स्तुति जरितुभिक्षमाणा आ नः॥[१९]

अर्थात् प्रभु ने जिस पृथ्वी की रचना की है, वह हमें सदैव आधार प्रदान करने वाली उषा के तुल्य सहायता प्रदान करती है। उसकी कृपा से ही हमें अज्ञान को दूर करने वाले ज्ञानी (उपदेशक) भी उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार अन्न इत्यादि की उत्पत्ति के निमित्त मेघ वर्षा करते हैं—

द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतस ऋतावरी रक्षतामंहसोरिषः।
मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत तद्देवानामर्वो अघा वृणी महे॥[२०]

सूर्य की रोशनी मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियों एवं वनस्पतियों के लिए कितनी उपयोगी है, हमारे वैदिक ऋषियों को इसका पूरा ज्ञान था। कल्याणदात्री सूर्य की रश्मियों से पृथ्वी में अन्न एवं पौष्टिक शक्ति उपजती है। गौ, अश्व इत्यादि प्राणियों में भी उनसे उपयोगी बल, कर्म और शक्ति का सृजन होता है। औषधियों व फलों को भी इन्हीं से शक्ति मिलती है। ये ही आकाश में सूर्य को दीप्त करती हैं। रोग-निवारण आदि कर्मों में भी ये प्रभावी ढंग से उपयोगी सिद्ध होती हैं—

ब्रह्मगामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन्पृथिवीं पर्वताँ अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्याव्रता विसृजन्तो अधिक्षमि॥[२१]

इस धरती पर अन्न, वनस्पति तथा जैविक प्रक्रिया तभी संभव हो सकती है, जब वर्षा हो। इसीलिए भूमि की उपलब्धियों की कामना के लिए वर्षा हेतु इन्द्र की स्तुति की गई है—

आतत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान।
सकृत्स्व? ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां वृहतीं दुदुक्षन्॥[२२]

सदानीरा सरिताएँ इस धरा के वक्षस्थल को निरंतर सिंचित करती हुई प्राणीमात्र को पेयजल उपलब्ध कराती हैं, अतः वे भी हमारे लिए वन्दनीय हैं। पतितपावनी गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों की स्तुति इस प्रकार की गई है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शतुद्रि स्तोमे सचतापरुष्णया।
असिकन्या मरुदृधे वितस्तयार्जीकीये शृवुह्यया सुषोमया॥[२३]

अर्थात् हे गंगा, यमुना, सरस्वती परुष्णी के साथ शतुद्धि, मेरे इन स्रोतों को स्वीकार करो तथा असि की कन्या व मरुदृधा वितस्ता के साथ मेरी स्तुति को सुनो।

इस पृथ्वी पर वृक्ष तो सभी प्राणियों को जीवन एवं आनंद प्रदान करने वाले हैं। स्तुतिकर्ता उपासक भी आनंदित होकर कह उठता है—

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्सोमास इन्द्र मन्दिनश्चमूषद।
प्रषामनीकं शवसा दविद्युद्विदत्स्वर्शर्मनंवे ज्योतिरार्यम्॥[२४]

वन हमारे पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। वर्तमान युग में वनों का जिस तरह से अंधाधुंध विनाश हो रहा है, इसकी आशंका वैदिक ऋषि को भी थी। इसीलिए वह बड़े रहस्यात्मक ढंग से वनों से संवाद करता है कि— हे वन समूह! तुम बिना पूछे ही आगे-आगे बढ़ते चले जाते हो, क्या तुम्हें किसी से भय-सा नहीं लगता। अर्थात् इस धरती पर तुम्हें काटने वाले लोग बहुत हैं, परन्तु तुम अपने कटने की परवाह किये बिना बढ़े चले जा रहे हो—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ यां प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव बिन्दती इँ॥[२५]

आज वायु-प्रदूषण मानव अस्तित्व के लिए एक बड़ा संकट बना हुआ है। हम बिना अन्न-जल के कुछ समय के लिए जीवित रह सकते हैं, परन्तु प्राण वायु के बिना एक पल भी जीवित नहीं रह सकते। इस कारण वैदिक ऋषि की दृष्टिमें वह वायु न केवल देवता तुल्य है, वरन् जीवनदाता, मित्र, भाई व पालनकर्ता भी है—

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥[२६]

अर्थात् वायु हमारा पिता, भाई, सखा आदि सब कुछ है। वह हमें जीवन के योग्य बनावे। स्वच्छ वायु प्राणदायिनी औषधि के समान है, जिससे हमारा जीवन स्वस्थ एवं नीरोग रह सकता है। इसीलिए स्तुतिकर्त्ता उपासक वायु देवता से प्रार्थना करता है—

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्राण आयूषि तारिषत्॥[२७]

अर्थात् हमारे हृदय के लिए वायु शांतिदायक औषधि के समान है। हमें आयु प्रदान करने वाली आयुवर्द्धक, नीरोग, पुष्टिकारक उत्तम वायु मिलती रहे।

वायु देवता के पास शुद्ध वायु का अमृतकोश संचित है। स्तुतिकर्त्ता उपासक वायु देवता से उस अमृत की याचना करता है—

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥[२८]

अर्थात् हे वायु देवता! तेरे घर में जो यह अमृत का कोश रखा है, उसमें से हमें जीवन के लिए अमृत प्रदान कर।

पर्यावरण के सभी अंग-उपांग हमारे लिए उपादेय हैं। उनमें से किसी एक के अभाव में भी हमारा जीवन-चक्र चल नहीं सकता। अतः सभी देवता व विद्वत्जन भी हमारी प्रार्थना सुनकर, इस धरा के मानव प्राणी को अभयदान दें—

समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एक पात्तनयित्नुरंर्णवः।
अहिर्बुघ्नयः शृणद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥[२९]

अर्थात् सागर, महानदी, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, विद्युत, जलाशय एवं आकाश स्थित मेघ सभी हमें बढ़ायें तथा सकल विद्वत्जन भी हमारी प्रार्थनाओं को सुनें।

इस प्रकार हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के आदि ग्रंथ 'ऋग्वेद' में सुखी एवं स्वस्थ जीवन की पूर्णता के लिए उपयोगी समस्त प्राकृतिक पदार्थों को जीवन के अभिन्न अंग के रूप में निरूपित करते हुए, उनकी मानवीय संदर्भों में उपादेयता प्रतिपादित की गई है। पर्यावरण शब्द का उल्लेख किये बिना, यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि प्राकृतिक पदार्थ हमारे वास्तविक मित्र व जीवनदाता हैं, उनके अस्तित्व के बिना धरती पर मानव के अस्तित्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः वे हमारे लिए हर दृष्टि से उपादेय होने के कारण आदरणीय व वन्दनीय हैं। पर्यावरण संरक्षण एवं पर्यावरण संतुलन की इससे बढ़कर उदात्त कल्पना, वेदों को छोड़कर विश्व के किसी भी साहित्य में देखने को नहीं मिलती।

अभिज्ञान शकुन्तल

कालिदास को प्रकृति से अगाध प्रेम था। कविता का कोई ऐसा प्रसंग नहीं, जहाँ प्रकृति ने उनका साथ छोड़ा हो। प्रकृति उनके पात्रों की भी हमेशा सहचर या सहचरी रही है। 'रघुवंश', 'मेघदूत', 'कुमार संभव', 'ऋतु संहार' में प्रकृति के नानारूपों तथा वृक्ष-वनस्पतियों का मानव सापेक्ष सूक्ष्म वर्णन देखने को मिलता है। कहीं देवदार का वृक्ष शिवजी के पुत्र के रूप में वर्णित है तो कहीं सघन छायादार वृक्षों से घिरे हुए नयनाभिराम दृश्यों से युक्त रामगिरि आश्रम में निष्कासित जीवन बिता रहे विरही यक्ष के दूत के रूप में मेघ का मर्मस्पर्शी चित्रण है। प्रकृति के ये बेजान-से प्रतीत होने वाले उपादान, किस प्रकार मानवीय संवेदनाओं के वाहक बनकर, मानव के सुख-दुःख के साथी बन जाते हैं, इसका मार्मिक दृश्य तब देखने को मिलता है, जब शकुन्तला के तपोवन से विदा लेते समय हरिणी शकुन्तला के वियोग के मारे मुँह का कौर उगल देती है, मयूर नृत्य करना छोड़ देते हैं तथा लताएँ रोने लगती हैं—

उदगलिदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्त्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्य श्रुणीव लताः॥[३०]

इतना ही नहीं, तपोवन के बन्धुस्वरूप साथी एवं वनदेवता के रूप में अधिष्ठित वृक्ष, ससुराल जाती हुई शकुन्तला को आशीर्वाद देते हैं—

रम्यान्तरः कमलिनी हरितैः सरोभिः
छायाद्रुमैर्नियमिताकर्मरीचि तापः।
भूयाद कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था॥[३१]

अर्थात् हे शकुन्तले! तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो, रास्ते में बीच-बीच में कमलों से खिले नीले सरोवर हों, धूप से बचने के लिए रास्ते के दोनों ओर छायादार वृक्ष हों तथा शांत, शीतल, सुगंधित हवा चले; जिससे मार्ग में तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो।

शकुन्तला का वन्यजीवों के प्रति प्रेम भी देखते ही बनता है। ससुराल-गमन के समय एक मृग-शावक बार-बार शकुन्तला से चिपटकर, उसके वस्त्रों से उलझकर, शकुन्तला को जाने से रोकने का प्रयास कर रहा है, पूछने पर कण्व ऋषि बताते हैं—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।।[३२]

अर्थात् हे पुत्री! कुश के अग्रभाग से जिसके घायल मुख में तुम घाव भरने इंगुदी के तेल को लगाती थी और मुट्ठी-मुट्ठी साँवा खिलाकर तुमने जिसे पाला था, वही यह पुत्र-सा दुलारा मृग तुम्हारे मार्ग को अवरुद्ध कर रहा है।

वन्यजीव-संरक्षण पर चिंता जताने वाले आधुनिक पर्यावरणवादियों में शायद ही किसी ने व्यावहारिक स्तर पर शकुन्तला का-सा वन्य जीवों के प्रति प्रेम दर्शाया हो। हमारी आरण्यक संस्कृति अरण्य-प्रेम पर ही आधारित थी। पर्यावरण-संरक्षण, संतुलन एवं संवर्द्धन का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि पर्यावरण के अंग माने जाने वाले घटकों वृक्ष-वनस्पतियों व वन्यजीवों को हमारी प्राचीन संस्कृति में परिवार का सदस्य, सखा-सहचरी व देवी-देवता स्वरूप माना जाता था।

रामचरितमानस

'रामचरितमानस' का महत्त्व साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से है। 'रामचरितमानस' रामकथा पर आधारित है, इस कारण उसमें भी हमें पुरातन आरण्यक संस्कृति के ही दर्शन होते हैं, जिसमें प्रकृति एवं प्राकृतिक उपादान मानवीय जीवन के अनिवार्य अंग के रूप में वर्णित हैं। अन्य ग्रंथों की भाँति यहाँ भी प्रकृति की मानवीय संवेदनाओं के साथ पूरी सहभागिता देखने को मिलती है। प्रकृति के नयनाभिराम दृश्यों को देखकर परब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम

राम भी मंत्र-मुग्ध हो उठते हैं। पुष्प-वाटिका प्रसंग में तुलसीदास कहते हैं—

बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरसे बंधु समेत।
परम रम्य आरामु यह जो रामहिं सुख देत॥[33]

वन, बाग, तड़ाग, शैल, सरोवर, सरोज, मधुप, विहग, पुष्प वगैरह का एक अपना ही अद्वितीय संसार है, जिनके अस्तिव की सार्थकता मानव-कल्याण में निहित है। ये भौतिक एवं मानसिक दोनों तरह की मानव-क्षुधा की पूर्ति करते हैं। सौन्दर्य भी हमारी एक मानसिक भूख है जिसकी तृप्ति प्रकृति के मनोहारी दृश्यों को देखकर ही हो सकती है। वाल्मीकि आश्रम का ऐसा ही एक मनोरम चित्र तुलसीदास जी प्रस्तुत करते हैं—

तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी।
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाई चले रघुराई॥
देखत बन सर सैल सुहाए। बाल्मीकि आश्रम प्रभु आए।[34]

यह महर्षि वाल्मीकि के तप का ही प्रभाव है कि जन्मजात शत्रु वन्यप्राणी भी साथ-साथ रह रहे हैं। अयोध्याकांड के 'वनगमन' प्रसंग में चित्रकूट की प्राकृतिक शोभा का वर्णन तो देखते ही बनता है। वाल्मीकि भगवान् राम से चित्रकूट में ही निवास करने का आग्रह कर रहे हैं, क्योंकि वह चित्रकूट सब तरह की संपदाओं से परिपूर्ण है—

चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू।
सैल सुहावन कानन चारू। करि केहरि मृग बिहग बिहारू॥[35]

चित्रकूट घनी वृक्षावली की छाया से आच्छादित है। उन्हीं घने वृक्षों की छाया के मध्य में राम ने अपनी पर्णकुटी बनाई है, जहाँ सदाबहार वन एवं फलदार वृक्ष हैं। सीता और लक्ष्मण ने भी वहाँ तुलसी के पौधे लगाए हैं। सीता जी ने वट वृक्ष की छाया में सुन्दर बेदी भी बनाई है। उस चित्रकूट की शोभा का बखान केवट भरत से करता है—

ए तरु सरित समीप गोसाँई। रघुबर परनकुटी जहँ छाई।
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाए।
बट छाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई।[36]

उस चित्रकूट धाम में सीता-लक्ष्मण न केवल तुलसी के पौधे लगाते हैं अपितु भरत एक कूआँ भी खुदवाते हैं, जहाँ वे सब तीर्थों से लाए हुए जल को स्थापित करते हैं—

देव देव अभिषेक हित गुरु अनुसासनु पाइ।
आनेउँ सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥
× × × × × ×
अत्रि कहेउ तब भरत सन सैल समीप सुकूप।
राखिअ तीरथ तो तहँ पावन अमिअ अनूप॥
× × × × × ×

तब सेवकन्ह सरस थलु देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेषा।
बिधि बस भयउ बिस्व उपकारु। सुगम अगम अति धरम बिचारु॥
भरत कूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जल जोगा।
प्रेम सनेम निमज्जत पानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी॥[३७]

अर्थात् हे देव! स्वामी के अभिषेक के लिए गुरुजी की आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थों का जल लेता हुआ आया हूँ, उसके लिए क्या आज्ञा है? तब अत्रि जी ने भरत से कहा— इस पर्वत के समीप ही कुआँ है, इस पवित्र, अमृत-जल को उसी में स्थापित कर दीजिए, तत्पश्चात् भरत जी के सेवकों ने उस स्थान को देखा तथा उस जल के लिए एक खास कुआँ बनाया। दैवयोग से विश्वभर का उपकार हो गया। धर्म का विचार, जो अत्यंत अगम था, वह इस कूप के प्रभाव से सुगम हो गया। अब लोग इसको 'भरतकूप' कहेंगे। तीर्थों के जल के संयोग से यह अत्यंत पवित्र हो गया। इसमें स्नान करने से प्राणी मन, वाणी व कर्म से निर्मल हो जाएँगे।

प्रकृति सब प्रकार से भरत के वन आगमन का स्वागत करती है। वन्यजीव भी प्रकृति के सुर में सुर मिलाकर भरत का अभिवादन करते हैं—

सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। विटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं।
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी॥[३८]

अर्थात् 'रास्ते में देवता फूल बरसाकर, बादल छाया करके, वृक्ष फूल-फलकर, तृण अपनी कोमलता से, मृग (पशु) देखकर और पक्षी सुंदर वाणी बोलकर, सभी भरत जी को राम का प्रिय जानकर, उनकी सेवा करने लगे'।

इसी प्रकार 'किष्किन्धाकाण्ड' के अंतर्गत भी प्रकृति का नानारूपात्मक मनोहारी चित्रण है। 'उत्तर कांड' में 'रामराज्य' वर्णन के अंतर्गत भी प्रकृति एवं वन्यजीवों के आपसी प्रेमभाव का सुंदर चित्रण है। रामराज्य का ही प्रभाव है कि जन्मजात वैर सिंह-हाथी, पशु-पक्षी अपना वैर भाव भूलकर प्रेम से रहने लगे हैं, सदा शीतल, सुगंधित बयार चलती है, वृक्ष मनोवांछित फल, बादल मनोवांछित वर्षा, लता-बिटप मनचाहा मधु, गाएँ दूध, पर्वत मणियों की खान तथा सरिताएँ अमृत-जल दे रही हैं और सागर अपनी मर्यादा में है।

पर्यावरण-संतुलन का इतना मनोहर दृश्य अन्यत्र नहीं दिखाई देता। यदि पर्यावरण के विविध घटकों के साथ छेड़छाड़ न की जाए, उन्हें अपना कार्य स्वाभाविक रूप से करने दिया ज़ाए, तो इस धरा में सचमुच 'रामराज्य' आ सकता है, जिसमें मानव-मात्र सुखपूर्वक रह सकेगा।

पर्व, त्योहार एवं पर्यावरण

भारत एक बहुधर्मी देश है, जहाँ विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं तथा सभी धर्मों के पर्व व त्योहार आपस में मिल-जुलकर मनाए जाते हैं। हमारे पर्व एवं त्योहार धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व रखते हैं, इनका हमारे जीवन में बड़ा महत्व है। अमूमन

हमारे पर्व व त्योहार किसी धार्मिक भावना, ऋतु-परिवर्तन, आह्लादकारक स्थिति, जातीय परम्परा, स्मरणीय घटना अथवा सुखानुभूति से जुड़े होते हैं। ये पर्व एवं त्योहार जहाँ हमारे उल्लास व आनन्दोत्सव के द्योतक हैं, वहीं इनका पर्यावरण की दृष्टि से भी महत्व है। कई ऐसे त्योहार हैं जिनका संबंध जीव-जंतुओं के संरक्षण, वनस्पतियों के संवर्द्धन तथा घर-आँगन व आसपास की स्वच्छता से है। भारत एक धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का देश है। यहाँ हर उस भावना, घटना व वस्तु को धार्मिक आस्था से जोड़ने की प्रवृति दिखाई देती है जिसका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हमारे जीवन में सार्थक महत्व होता है; जैसे-नागों की रक्षा से संबंधित नागपचमी, अश्वों से संबंधित दशहरा पूजन, गोवंश की रक्षा के लिए गोवर्द्धन पूजा व साँड़ों की सुरक्षा हेतु नंदी पूजन के रूप में शिवरात्रि का पर्व मनाया जाता है। इनके अलावा भी मछलियों को आटे की गोली, गाय को 'गोग्रास' चींटियों को आटा तथा कुत्ते को रोटी देने का प्रचलन इसी भावना का सूचक है कि इनको बचाया जा सके।

पर्यावरण की दृष्टि से 'महाशिवरात्रि' पर्व का दो रूपों में महत्व है। एक तो शिवजी के साथ नंदी-पूजन भी होता है, जो हमारे पशु-प्रेम का सूचक है तथा बेल-वृक्ष की पत्तियाँ शिवलिंग पर चढ़ाई जाती हैं, जो वृक्षों के प्रति आदरभाव का प्रतीक है।

चैत्र मास की शुक्ला प्रतिपदा को हिन्दुओं का नया साल विक्रमी संवत् आरंभ होता है। उस दिन नया संवत् या नवरात्र का त्योहार मनाया जाता है, जिसे चैत्र शुक्लदी या 'गुड़ी पड़वा' भी कहा जाता है। इसे आंध्र प्रदेश में 'उगादी' तथा महाराष्ट्र में 'चेती चाँद' भी कहा जाता है। इसी दिन ब्रह्मा जी ने सृष्टि-रचना प्रारंभ की थी। अत: यह ब्रह्मा की पूजा का त्योहार भी है। इस दिन भगवान् विष्णुने सूर्यवंशी राजा सत्यव्रत को महाप्रलय का दृश्य दिखाने के लिए 'मत्स्य' अवतार लिया था। उन्होंने राजा सत्यव्रत से महाप्रलय से सात दिन पूर्व प्रत्येक वस्तु, पेड़-पौधे एवं सभी औषधियों के बीज इकट्ठे करने को कहा था, ताकि महाप्रलय के बाद वह उन्हें बोकर पैदावार कर सके। एक किश्ती में महाप्रलय का दृश्य देखने के बाद राजा सत्यव्रत ने औषधियों व सब चीजों के बीजों को बोकर फिर से पैदावार बढ़ायी थी।[३९] इस दिन घर को फूल-पत्तियों से सजाया जाता है तथा नीम के कोमल पत्ते खाए जाते हैं। इस तरह पर्यावरण-सुरक्षा व संरक्षण की दृष्टि से त्योहार का विशेष महत्व है; क्योंकि राजा सत्यव्रत ने वनस्पतियों की हजारों प्रजातियों को महाप्रलय की विनाश-लीला में समाप्त होने से बचाया था। नीम के पत्तों का भक्षण भी प्राकृतिक चिकित्सा को महत्व प्रदान करता है। 'गंगा दशहरा' स्वर्ग से धरती पर 'गंगावतरण' का त्योहार है। पर्यावरण एवं सांस्कृतिक, दोनों दृष्टियों से गंगा का भारतवासियों के लिए कितना महत्व है, यह सर्वविदित है।

'नाग पंचमी' का त्योहार नागों की पूजा का त्योहार है। यह त्योहार नाग जाति एवं आर्यों के बीच सद्भाव एवं आपसी मेलजोल का प्रतीक भी है। नाग पर्यावरण संतुलन बनाए रखने में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं।

भगवान् बुद्ध का जन्म 'बुद्ध पूर्णिमा' के रूप में मनाया जाता है। उन्हें पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस कारण वह पीपल का पेड़ 'बोधि-वृक्ष' कहलाया और सिद्धार्थ गौतम बुद्ध हो गए। इसीलिए पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता है और उसकी पूजा की जाती है।

'वट सावित्री का व्रत' जहाँ एक ओर सावित्री के पातिव्रत्य धर्म एवं सौभाग्य का प्रतीक है, वहीं 'वट' वृक्ष की पूजा पर्यावरण सुरक्षा के संकल्प का व्रत भी है।

नारी पारिवारिक पर्यावरण की महत्वपूर्ण घटक है। भारतवर्ष में 'दुर्गा अष्टमी' का पूजन इसी तरह का त्योहार है। दुर्गा शक्तिस्वरूपा हैं। जिस प्रकार शक्ति के बिना शिव शव हैं, उसी प्रकार नारी के बिना मनुष्य भी शव-तुल्य है। इस प्रकार नारी जाति के प्रति सम्मान व्यक्त करने तथा उसे समाज में उच्च स्थान प्रदान करने के लिए दुर्गापूजा की जाती है। 'मनुस्मृति' में कहा भी गया है— 'यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवताः'।[४०] अतः दुर्गा-पूजा पर्यावरण के जैविक घटकों में संतुलन कायम करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पर्यावरण के स्वच्छीकरण का महत्वपूर्ण त्योहार है— 'दीपावली'। यह पाँच त्योहारों का समूह है। ये पाँच त्योहार हैं— १. धनतेरस २. नरक चतुर्दशी ३. दीपावली (महालक्ष्मी पूजन) ४. गोवर्द्धन या अन्नकूट का त्योहार ५. भैयादूज। दीपावली का त्योहार जहाँ हमारे सांस्कृतिक जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है, वहीं पर्यावरण की दृष्टि से कई महत्वपूर्ण तथ्य इसमें अंतर्निहित हैं। पहला दिन स्वास्थ्य कामना का है; क्योंकि धनतेरस को धन्वन्तरि की पूजा होती है और वे आयु तथा आरोग्य के देवता हैं। नरक चतुदर्शी नारकीय कष्टों से मुक्ति पाने की कामना है; क्योंकि गंदगी व पर्यावरण-प्रदूषण तमाम रोगों के कारण हैं जो जीवन को नरकमय बना देते हैं, साफ-सफाई से उसे दूर किया जा सकता है। दीपावली प्रकाश का दिन है, जो अंधकार पर प्रकाश, बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक है। गोवर्द्धन पूजा भारतीय कृषि-संस्कृति की पोषक है। श्रीकृष्ण ने इन्द्र के प्रकोप से ब्रजवासियों व उनके पशुओं की रक्षा की थी और गोवर्द्धन पर्वत को अंगुली पर उठाकर उन्हें डूबने से बचाया था। भैया दूज भाई-बहिन के पवित्र प्रेम का सूचक है। अतः पर्यावरण से संबधित सभी बातें-स्वास्थ्य (धनतेरस), स्वच्छता (नरक-चौदस), प्रकाश-भौतिक एवं आध्यातिक ज्ञान तथा आशा का दीपक (दीपावली), धन-धान्य की समृद्धि व गो-रक्षा (गोवर्द्धन पूजा) तथा आपसी प्रेम-भाव जन्य मानवीय संवेदनाएँ (भैया दूज) आदि इस त्योहार में एक साथ देखने को मिलती हैं।

लोक-संस्कृति एवं पर्यावरण

भारतीय संस्कृति में जो विविधता देखने को मिलती है, उसका प्रमुख कारण देश के विभिन्न अंचलों की क्षेत्रीय संस्कृतियों की निजी विशेषताएँ हैं। भारतीय जीवन के विविध आयामों में विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिश्रण की झलक दिखाई देती है। अलग-अलग क्षेत्रों में अनेक छोटी-छोटी इकाइयाँ अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं के लिए जानी जाती

हैं जो 'लोक-संस्कृति' के नाम से पहचानी जाती हैं। लोक-संस्कृति का हमारे पर्यावरण से घनिष्ट संबंध है। चूँकि लोकजीवन प्रकृति की गोद में ही पलता व फूलता-फलता आया है, इस कारण प्रकृति के संपूर्ण क्रियाव्यापार मनुष्य की सांस्कृतिक परम्परा से जुड़े हुए हैं। प्रकृति के अधिकाधिक निकट रहने के कारण ग्राम्य जीवन में धर्म के नाम पर अनेक ऐसे संस्कार पाए जाते हैं, जिनका पर्यावरण-सरंक्षण से सीधा संबंध है; जैसे— तमाम प्राकृतिक पदार्थों को देवस्वरूप मानना, गोमाता की पूजा, नाग-देवता की पूजा, पवित्र नदियों व वृक्षों की पूजा, गोमूत्र-पान आदि। ये संस्कार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण-संरक्षण में सहायक रहे हैं, परन्तु आज वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगिक विकास एवं तर्कबुद्धि के प्राबल्य के कारण ये लोकविश्वास एवं मान्यताएँ अज्ञान, अंधविश्वास व दकियानूसी मानकर त्याज्य समझी जा रही हैं, परंतु उनके निहितार्थ अभिप्राय को समझें तो वे प्रकारान्तर से पर्यावरण-सरंक्षण में आदिकाल से सहायक रहे हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदिकाल से ही प्रकृति तथा भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का अटूट संबंध रहा है। वनों से ही हमारी संस्कृति उपजी, पनपी और विकसित हुई। संभवत: यह भी एक कारण था कि वर्तमान औद्योगिक क्रांति से पूर्व भारत में प्रकृति-दोहन या प्रकृति पर विजय पाने का विचार भारतवासियों के मन में नहीं उपजा। वन हमारे लिए कभी भी जड़ पदार्थ मात्र नहीं थे। उन्हें हमेशा सजीव प्राकृतिक तत्व के रूप में सम्मान दिया गया। सजीव प्राणियों की तरह वृक्ष-वनस्पति हमारे सुख-दु:ख के साथी रहे हैं। वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधों में भी प्राण होते हैं, परन्तु उनमें मनुष्यों की तरह भावनाएँ नहीं होतीं। दूसरी ओर वर्डस्वर्थ- जैसे कवि भी हैं, जिनका मानना है कि 'मेरा पूरा विश्वास है कि प्रत्येक पुष्प जब हवा में साँस लेता है तो वह हवा का पूरा आनंद उठाता है'। इस तरह का विश्वास कई पेड़-पौधों की गतिविधियों को देखकर होता है; जैसे— छुईमुई को छुएँ तो वह अपनी पत्तियों को सिमट लेती है। इसी तरह कुछ वृक्ष रात को अपनी पत्तियों को मोड़ लेते हैं, जिससे लगता है कि वे रात को सो जाते हैं। कहने का आशय यह है कि पेड़-पौधे भी संवदेनशील होते हैं। इसी कारण हमारी प्राचीन संस्कृति में प्रकृति को दिव्यशक्तिरूपा, मातृस्वरूपा, वन्दनीया तथा मानव जीवन का अभिन्न अंग माना गया है। परन्तु आज मानव उनके प्रति संवेदनशील नहीं रहा। हमारी वेदवाणी नक्कार खाने की तूती साबित हो रही है तथा प्रकृति को लूटने-खसोटने की होड़ मची हुई है।

हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को दैवीयस्वरूपा मानने तथा उनको धार्मिक भावनाओं के साथ जोड़ने का मुख्य उद्देश्य यह था कि हम उनके प्रति अनुराग रखें तथा उनकी रक्षा करें और उनके सहयोग से स्वस्थ, सुखी व संतुलित जीवन बिताएँ, जो उनकी दूरदर्शिता का परिचायक था। स्वच्छ हवा, शुद्ध पानी, हरी-भरी धरती, प्रकृति का अधिक

से अधिक सान्निध्य, प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द, धरती पर सुखी, संतुलित एवं समन्वयपूर्ण जीवन, ये ही कुछ विषय हैं, जिनका पर्यावरण संतुलन व संरक्षण से सीधा संबंध है और इन्हीं बातों का प्राचीन काल से लेकर आज तक हमारे साहित्य एवं संस्कृति में वर्णन होते आया है। इस प्रकार भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में पर्यावरण विषयक चिन्तन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है।

——

सन्दर्भ :

१. चैम्बर्स अंग्रेजी-हिन्दी कोश, १९९२, पृ० ४०६
२. ए० एन० पुरोहित— 'संतुलित विकास का दर्शन' पहाड़—५/६, पृ० ८८ (सं० शेखर पाठक), नैनीताल
३. महाभारत, अनुशासन पर्व, १४२/१३-१४
४. ऋग्वेद, २/३३/१
५. वही, १/११५/१
६. प्रश्न उपनिषद, १/५
७. ऋग्वेद, १०/१३७/३
८. श्रीमद्भगवद् गीता, १०/२६
९. सरसामस्मि सागर, गीता; १०/२४
१०. गीता, १०/२५,२८
११. स्रोतसामस्मि जाह्नवी; गीता, १०/३१
१२. मेघदूत, १/४०
१३. अभिज्ञानशकुन्तलम्, ४/७
१४. अथर्ववेद, भूमि सूक्त, १२/१/३०
१५. मनुस्मृति, ४/५६
१६. ऋग्वेद, १/१९१/६
१७. वही,४/३/९
१८. वही, १०/१८/११
१९. वही, १०/३२/५(२७)
२०. वही, १०/३६/२
२१. वही, १०/६६/११
२२. वही, १०/७४/४
२३. वही, १०/७५/६
२४. वही, १०/४३/४
२५. वही, १०/१४६/१
२६. वही, १०/१८६/२
२७. वही, १०/१८६/१
२८. वही, १०/१८७/१(४४)
२९. वही, १०/६६/११
३०. अभिज्ञानशकुन्तलम्, ४/१०

३१. वही, ४/९
३२. वही, ४/२२
३३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, २२७
३४. वही, अयोध्याकाण्ड, १२४
३५. वही, १३२
३६. वही, २३७
३७. वही, ३०७, ३०९, ३१०
३८. वही, ३११
३९. भारतीय उत्सव और पर्व, १९९०—वेद प्रकाश गुप्त, पृ० ४२
४०. मनुस्मृति, ३/५६

——

भृङ्गाष्टकम् की एक अज्ञात पाण्डुलिपि और उसका रचनाकार

(प्रो० डी० डी० कौशाम्बी द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों के आलोक में संक्षिप्त विश्लेषण)

—*प्रताप कुमार मिश्र*

अद्यावधि उपलब्ध संस्कृत साहित्य के इतिहास में तथा अन्यान्य सन्दर्भ ग्रन्थों में 'भृङ्गाष्टकम्' का सुपष्ट उल्लेख, इससे सम्बन्धित विवरण; यथा रचनाकाल, रचनाकार, स्थान आदि निश्चय ही अनुपलब्ध हैं, किन्तु मात्र इसी के कारण हम— 'भृङ्गाष्टकम्' को संस्कृत साहित्य एवं विज्ञ संस्कृत समाज के लिए अज्ञात भी नहीं कह सकते। कारण कि यह एक विचित्र संयोग का विषय है कि लोकप्रचलन अथवा प्रचार की दृष्टि से यह लघु काव्य विगत कई सौ वर्षों से आज तक संस्कृत समाज का विशेष आभूषण बना हुआ है, किन्तु अत्यन्त लोकप्रिय तथा लोकप्रचलित होने के बावजूद यह उसी संस्कृत समाज तथा संस्कृत साहित्य के लिए अपरिचित, अज्ञात एवं विवादित काव्य (अष्टक) बन कर रह गया है।

संस्कृत के निम्नलिखित पद्य से संस्कृत समाज तथा संस्कृत साहित्य का प्रत्येक छात्र परिचित है—

> "रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेषेयति हसिष्यति पङ्कजश्रीः
> इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार"।।

निश्चय ही इन पंक्तियों को आपने कितनी बार कितने ही मुंह से सुना होगा, सम्भव है स्वयं भी कितनी बार पढ़ा हो और यथासमय दूसरों को सुनाया भी हो! किन्तु यह अंश कहाँ से उद्धृत है? इस पद्य को किस कवि ने लिखा था? कवि का काल क्या था— इत्यादि प्रश्नों से निश्चय ही आप भी उसी प्रकार अपरिचित होंगे जैसे संस्कृत साहित्य का अधुनातन इतिहास और स्वयं इन पंक्तियों का अनुलेखक भी। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि उपर्युक्त पद्य 'भृङ्गाष्टकम्' नामक एक अष्टक काव्य से उद्धृत है और इस पर अनुसन्धान करने वाले एकमात्र भारतीय विद्वान् प्रो० डी० डी० कौशाम्बी हैं, उनके अनुसार, इस अष्टक के रचनाकार हैं प्रख्यात कवि, दार्शनिक एवं वैयाकरण महाराज भर्तृहरि।

प्रस्तुत शोधपत्र में हम इसी 'भृङ्गाष्टक' के एक अज्ञात एवं सद्यःप्राप्त पाण्डुलिपि का परिचय एवं 'भृङ्गाष्टक' की अन्य पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर सन् १९४८ ई० में इसे भर्तृहरि की रचना बताने वाले स्वनामधन्य विद्वान् इतिहासकार एवं गवेषक डॉ० डी० डी० कौशाम्बी के सम्बद्ध विचारों एवं विवरणों के आधार पर 'भृङ्गाष्टक' के रचनाकार विषयक संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

पाण्डुलिपि परिचय

'भृङ्गाष्टक' की प्रस्तुत पाण्डुलिपि मुझे अपने शोधक्रम में 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' के विशाल हस्तलेख-संग्रहालय में प्राप्त हुई। साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण मन में कौतूहल हुआ कि क्यों न इस अष्टक को पढ़ा जाए। पढ़ने पर वही 'रात्रिर्गमिष्यति' वाला पद्य 'भृङ्गाष्टक' में देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इसके पूर्व मैंने इस पद्य के लेखक के विषय में कभी जानने का प्रयास नहीं किया था। यहाँ इस पद्य को पढ़कर 'भृङ्गाष्टक' के विषय में अधिक जानने का उद्योग प्रारम्भ हुआ; किन्तु पूर्ण सफलता प्राप्त न हो सकी। अतः इस विषय की महत्ता को देखते हुए विद्वत्समाज के समक्ष इस पाण्डुलिपि एवं इस अष्टक को प्रस्तुत करने के विचार से कतिपय आवश्यक तथ्यों को एकत्रित कर, इस शोधलेख को प्रस्तुत किया।

सभा द्वारा प्रकाशित संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची[१] में 'भृङ्गाष्टक' से सम्बन्धित विवरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

''ग्रन्थ-भृङ्गाष्टकम्, ग्रन्थकार-अज्ञात, आधार—देशी कागज, लिपि—नागरी, आकार—''१३.+७.५'', पत्र-२, प्रतिपृष्ठ पंक्ति—७, प्रतिपंक्ति अक्षर—२५, स्थिति-पूर्ण, अवस्था—प्राचीन, लिपिकाल—अज्ञात, रचनाकाल—अज्ञात, रक्षितसंख्या-६५३५।''

प्रस्तुत पाण्डुलिपि के आदि एवं अन्त की स्थिति इस प्रकार है—

आदि - श्री रामचन्द्राय नमः। श्री राधाकृष्णाय[२] नमः।
अन्त - ''इति भृङ्गाष्टकम् सम्पूर्णम्।''

आदि एवं अन्त के पद्यों को यहां इस आशय से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है कि लेख के अन्त में आठों पद्य प्रस्तुत कर दिये गये हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत पाण्डुलिपि 'भृङ्गाष्टकम्' नामक एक लघुकाय काव्य की पाण्डुलिपि है। इसके अनुसार, इसमें भगवत्स्मरण परक वाक्यों (आदि एवं अन्त) को छोड़कर कुल आठ पद्य प्रस्तुत हैं। विवरण में न तो रचनाकार, ना ही रचनाकाल और ना ही लिपिकाल के विषय में ही कुछ कहा गया है और इन सब का उल्लेख पाण्डुलिपि में भी नहीं किया गया है। अतः इस अष्टक के रचयिता, काल एवं पाण्डुलिपि के लिपिकाल के विषय में किसी प्रकार की कोई सूचना प्रस्तुत हस्तलेख के आधार पर नहीं दी जा सकती, इसके लिए हमें अन्य साक्ष्यों का आधार आवश्यक है।

'भृङ्गाष्टकम्' एक लघुकाय अष्टक काव्य है जिसमें आठ पद्य प्रयुक्त होते हैं। बहुधा अष्टक, एक मुक्तक काव्य के रूप में भी जाने जाते हैं। जिसके प्रत्येक पद्य अपनी विषयवस्तु के निरूपण के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और आगे या पीछे के पद्यों से उनका कोई विशेष संपर्क नहीं होता। प्रत्येक पद्य स्वतंत्रतया अष्टक की विषयवस्तु को निरूपित करता है। इस दृष्टि से 'भृङ्गाष्टकम्' का प्रतिपाद्य है— भृङ्ग=भ्रमर, किसी भौंरे के स्वाभाविक कृत्यों/

चपलताओं का वर्णन करना। प्रत्येक पद्य में तथाकथित उस भृङ्ग की चपलता तथा पुष्पान्तरों में उसकी रुचि एवं लोभ के कारण प्रत्येक पुष्प पर उसके गमन एवं विपत्ति में फंसना वर्णित है। लोभजन्य कष्टों एवं दुखद परिणामों को भृङ्ग के ब्याज से प्रस्तुत करने में निश्चय ही कवि सफल रहा है। बहुधा यह अन्योक्तिपरक काव्य-जैसा भी लगता है। भ्रमर के ब्याज से अनेक नायिकाअनुरक्त पुरुष अथवा नायक पर पड़ने वाली विपत्तियों की ओर भी संकेत जाता है। सम्पूर्ण आठ पद्यों में स्वभावोक्ति अलंकार के साथ-साथ ब्याजोक्ति एवं अन्योक्ति को भी देखा जा सकता है। निम्नलिखित आठ छन्दों में क्रमशः आठ पद्यों की रचना की गयी है—

शार्दूलविक्रीडितम्	- पद्य संख्या १, ४ एवं ६
मन्दाक्रान्ता	- पद्य संख्या ३ एवं ७
द्रुतविलम्बित	- पद्य संख्या २,
वसन्ततिलका	- पद्य संख्या ५,
अनुष्टुब्	- पद्य संख्या ८,

भृंगाष्टकम् और प्रो० कौशाम्बी

उपर्युक्त जिस अष्टक अथवा लघुकाव्य की चर्चा हम कर रहे हैं इसका कोई विवरण संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रंथों में स्पष्टतः प्राप्य नहीं है। बहुधा 'भृंगाष्टकम्' के पद्यों को विच्छिन्नतः परवर्ती सुभाषित-संग्रह-ग्रंथों में स्थान दिया गया है। रात्रिगमिष्यति पद्य के विवरण हेतु जब मैंने अन्यान्य सुभाषित-ग्रंथों का अवलोकन किया तो 'सुभाषित-रत्न-भाण्डागारम्' में इस पद्य का उल्लेख प्राप्त हुआ। इसमें इस पद्य को 'भर्तृहरि सुभाषित संग्रह,' जिसका सम्पादन प्रो० कौशाम्बी ने किया था; से उद्धृत बताया गया है। कौशाम्बी का यह संग्रह प्रथम एवं अन्तिम बार सन् १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ जो कि अब धीरे-धीरे दुर्लभ होता जा रहा है। मुझे इसकी एक प्रति पंडित वासुदेव द्विवेदी शास्त्री (वाराणसी) के वैयक्तिक पुस्तकालय से उपलब्ध हुई।

सन् १९४८ ई० में प्रो० कौशाम्बी ने समूचे भारत एवं विदेशों के पुस्तकालयों, हस्तलेख-संग्रहालयों में संरक्षित भर्तृहरि के नाम से उपलब्ध साहित्य; यथा— शतकत्रय एवं अन्यान्य फुटकर पद्यों के आधार पर 'भर्तृहरिसुभाषित संग्रह' का प्रकाशन कराया। भर्तृहरि के नाम से उपलब्ध समस्त सुभाषितों में यह संग्रह अनुसन्धान अर्थात् शोध की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ है। संग्रह की भूमिका में विद्वान् सम्पादक ने भर्तृहरि सुभाषितों की सैकड़ों पाण्डुलिपियों का परिचय, अन्यान्य पाठों, पाठान्तरों के साथ अनेक टीकाकारों एवं अनुवादों की सूचना भी प्रस्तुत की है[३]।

प्रस्तुत संग्रह में भर्तृहरि के तीनों शतकों के अलावा भर्तृहरि के नाम से उपलब्ध समस्त ज्ञात-अज्ञात सुभाषितों को निम्नवत् प्रस्तुत किया गया है—

(क) संशयितश्लोका:

सुभाषितों के इस वर्ग में अकारादिक्रम से भर्तृहरि के नाम से प्राप्त, ज्ञात एवं अज्ञात १५२ पद्यों को पाठान्तरों के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन पद्यों को बहुधा अन्य सुभाषित संग्रहों में भी पढ़ा जा सकता है, जहाँ ये भर्तृहरि के नाम से प्रस्तुत हैं। सम्पादक ने इन पद्यों से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों का उल्लेख भी कर दिया है।

(ख) संकीर्णश्लोका:

सुभाषित पद्यों के इस वर्ग में अनेक सुभाषितसंग्रहग्रन्थों एवं पाण्डुलिपियों में प्राप्त, भर्तृहरि के नाम से उल्लिखित सुभाषितों को प्रस्तुत किया गया है।

(ग) विटवृत्तम्

यह स्वतंत्र लघुकाय काव्य है, जिसमें शृंगार, शान्त आदि से सम्बन्धित ८४ पद्य हैं। स्त्रीप्रशंसा, स्त्रीसमागम, सम्भोग, स्त्रीछल-छद्म, स्त्रियों के कपट व्यवहार सम्बन्धी ये पद्य भर्तृहरि के नाम से अनेक हस्तलेखों में 'विटवृत्तम्' के नाम से प्राप्त हुए हैं।

(घ) विज्ञानशतकम्

अनेक विषयों से सम्बन्धित सुभाषितों का संग्रह 'विज्ञानशतकम्' के नाम से परिचित है। इसके पद्यों की कुल संख्या १०३ है।

इस प्रकार प्रो० कौशाम्बी ने इस संग्रह में भर्तृहरि के नाम से उपलब्ध तीनों शतकों, 'संशयित संकीर्ण पद्यों', 'विटवृत्त' एवं 'विज्ञानशतक'— आदि कुल मिलाकर १०३९ पद्यों को प्रस्तुत किया है। पता नहीं, इन पद्यों के कर्ता स्वयं महाराज भर्तृहरि थे या पीछे से अन्यान्य कवियों ने अपनी रचनाएं उन्हें समर्पित कर दी थीं।

प्रो० कौशाम्बी ने अपने सुभाषित संग्रह के 'संकीर्णश्लोका:' वाले खण्ड में 'रात्रि: गमिष्यति भविष्यति' इस पद्य को उद्धृत किया है। इस पद्य को उन्होंने 'भृंगाष्टकम्' से उद्धृत बताया है और इसकी पाण्डुलिपि उन्हें 'भारत इतिहास संशोधन मण्डल, पूना' से प्राप्त हुई थी। प्रो० कौशाम्बी ने इस पद्य के उद्धरणों को निम्नवत् प्रस्तुत किया है[४]—

पद्य संख्या ७१२— "रात्रिर्गमिष्यति सुप्रभातम् ISM kalamkar, v72/ srin. 309, v45/ BIS. 5777(2625)/ Bhramarashtak 8. in Haeb. 241/ Kavyakal. 91/ Kavyasam. 18/ Kuvalayananda 159/ SP. 1181/ SRB p. 223; 78/ SBH 754/SKM. 19.5/ SRH. 35.52 (shringar prakash)/ SSV. 1096/ skg. f. 14b."

इसी प्रकार 'भृंगाष्टकम्' के पद्य सं० १ (गन्धाढ्यां नवमल्लिकां मधुकरस्त्यक्त्वा गतो यूथिकाम्) को प्रो० कौशाम्बी ने निम्नलिखित साक्ष्यों द्वारा प्रस्तुत किया है[५]—
'480-ISM Kalamkar 692 v71/ IS. 2082 {821}/Bhramarastak. 2 in Heab. 240/ Subhash. 153/ SRB. P.75.18/ SBH. 753/ SRK. P. 186. 14 {kavyasamgraha}."
प्रो० कौशाम्बी द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों में 'भृंगाष्टकम्' के प्रसंग में ध्यातव्य है कि सम्पादक

को जो हस्तलेख पूना से प्राप्त हुआ वह 'भ्रमराष्टकम्' की पाण्डुलिपि है न कि 'भृंगाष्टकम्' की। इससे यह सिद्ध है कि प्रस्तुत अष्टक, 'भृंगाष्टक' और 'भ्रमराष्टक' दो रूपों में प्राप्य है।

रचनाकाल

हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि प्रस्तुत अष्टक के रचनाकाल से सम्बन्धित अथवा इस हस्तलेख के लिपिकाल से सम्बन्धित किसी प्रकार की कोई सूचना हमें पाण्डुलिपि से अथवा सभा के हस्तलेख विवरण से प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार इससे सम्बन्धित किसी प्रकार की कोई सहायता हमें प्रकृत हस्तलेख के अन्त:साक्ष्यों से भी प्राप्त नहीं होती। किन्तु इस दिशा में बहि:साक्ष्य के रूप में हम संस्कृतसाहित्य के उन अनेक सुभाषित-संग्रह-ग्रन्थों से सहायता प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें 'भृंगाष्टकम्' के पद्यों का उल्लेख किया गया है। इन कतिपय संग्रह-ग्रन्थों की सहायता से हम प्रकृत हस्तलेख का रचनाकाल निर्धारित करने का प्रयास करेंगे[६]।—

सुभाषितावली (वल्लभदेव)

वल्लभदेव द्वारा संगृहीत 'सुभाषितावली' ग्रंथ संस्कृत-साहित्य के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अनेकानेक शोधकर्ताओं तथा विद्वानों ने इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी के रूप में सिद्ध किया है। इसका प्रकाशन पी० पीटर्सन तथा श्री दुर्गाप्रसाद के सम्पादन में बम्बई से सन् १८८६ ई० में हुआ था। इस संग्रह के प्रस्तुत संस्करण में पद्य सं० ७५३ के रूप में विवेच्य पाण्डुलिपि का प्रथम पद्य "गन्धाढ्यां नवमल्लिकां मधुकरस् त्यकत्त्वा गतो यूथिकाम्"— पढ़ा गया है। इसी प्रकार पद्य सं० ७५४ के रूप में 'भृंगाष्टकम्' का ५ वां पद्य "रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्" भी पढ़ा गया है।

शार्ङ्गधरपद्धति (शार्ङ्धर)

विविध विषयों से सम्बन्धित ललित पद्यों का यह संग्रह भी संस्कृत-समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विद्वानों के अनुसार, इसकी रचना सन् १३६३ ई० में हुई थी। इसका ७ वां संस्करण 'बम्बई संस्कृत सीरीज ३७' से पी० पीटर्सन के सम्पादन में सन् १८६८ ई० में हुआ, इसमें पद्य सं० ११८१ के रूप में 'रात्रिर्गमिष्यति'— पद्य पढ़ा गया है।

सूक्तिमुक्तावली (वाग्भट्ट जल्हण)

वाग्भट्ट जल्हण द्वारा संकलित 'सूक्तिमुक्तावली', गवेषकों तथा इतिहासविदों के अनुसार १३ वीं शताब्दी के मध्यकाल की रचना है। इसका प्रकाशन 'गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा' से श्री अम्बर कृष्णमाचार्य के सम्पादन में हो चुका है। इस संस्करण में १९.५ संख्यक पद्य के रूप में 'रात्रिर्गमिष्यति' को पाया जाता है।

सारसूक्तावली (शिवहंस)

डा० कौशाम्बी ने अपने संकलन में इसे 'भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्यूट, पूना' में हस्तलेख के रूप में संरक्षित बताया है (संख्या १४९२/१८८६-९२), जहाँ इसका रचनाकाल संवत् १६५० के रूप में अंकित है। इसके रचयिता 'शिवहंस' नामक जैन मुनि हैं, एवं इसके संकलयिता श्री मुनिचन्द्रगणि हैं। 'निर्णय सागर प्रेस, बम्बई' द्वारा १९२२ ई० में प्रकाशित 'सूक्तिमुक्तावली' (श्रीमत्पूर्वाचार्य संकलित) के अनुसार इसका प्रकाशन हो चुका है, किन्तु यह कहाँ से प्रकाशित है, यह नहीं जाना जा सका। इसमें पद्य सं० १०९६ के रूप में 'रात्रिर्गमिष्यति' का सन्निवेश हुआ है।

इस प्रकार उपर्युक्त संग्रह ग्रन्थों में 'भृंगाष्टकम्' के पद्यों का उल्लेख सुलभ होता है। उपर्युक्त संग्रह ग्रन्थों में 'शार्ङ्गधरपद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' (वाग्भट्ट जल्हण) सबसे प्राचीन हैं, जो कि कम से कम तेरहवीं शताब्दी की रचनाएं हैं; अतः 'भृंगाष्टकम्' के प्रसंग में इतना तो सप्रमाण कहा ही जा सकता है कि यह लघु काव्य कम से कम तेरहवीं शताब्दी से पूर्व रचा जा चुका था और १३वीं शती तक पूर्णरूपेण लोक में प्रचलित हो चुका था जिसके कारण परवर्ती अनेकानेक कवियों तथा संकलनकर्ताओं ने अपने-अपने संकलन में इसके पद्यों को स्थान दिया।

रचनाकार :

हम इस बात की चर्चा पीछे कर चुके हैं कि 'भृंगाष्टकम्' के रचयिता के विषय में स्पष्ट रूपसे कुछ भी कहना कठिन ही नहीं असम्भव है। इस प्रसंग में हम प्रो० कौशाम्बी के संग्रह की सहायता से इतना ही कह सकते हैं कि यत्र-तत्र कतिपय संकलनग्रन्थों में उद्धृत 'भृंगाष्टकम्' के पद्यों को भर्तृहरि द्वारा रचित बताया गया है। किन्तु इस बात का भी प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण हमें या प्रो० कौशाम्बी को नहीं मिल सका है कि ये पद्य महाराज, प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि द्वारा ही प्रणीत हैं, अथवा किसी अन्य कवि द्वारा। किन्तु प्राचीन कवियों तथा संकलनकर्ताओं द्वारा चूंकि इन पद्यों को भर्तृहरि प्रणीत बताया गया है; अतः जब तक इसके विरुद्ध प्रबल प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाते तब तक इन पद्यों के लेखक होने के कारण 'भृंगाष्टकम्' के रचयिता को भर्तृहरि के रूप में स्वीकार करने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अब हम महाराज भर्तृहरि के विषय में भी कुछ चर्चा करेंगे। अब तक संस्कृत साहित्य या संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में जितने भी शोधग्रन्थ या प्रबन्ध सामने आए हैं, किसी में भी भर्तृहरि के वास्तविक कालक्रम को ठीक से व्यवस्थित नहीं किया जा सका है, इस प्रसंग में ध्यान रहे कि ऐसा किसी असावधानी अथवा अज्ञानता के कारण नहीं हुआ, अपितु इसे विचित्र विडम्बना ही कहना चाहिए कि संस्कृत साहित्य के अनुसन्धित्सु जनों को महाराज भर्तृहरि पर कार्य करते समय यथातथ्य रूप से किसी प्रकार की कोई सूचना प्राप्त नहीं होती, उनके कालक्रम का ही ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता और अनन्योपाय होकर इसके

लिए अनेकानेक जनश्रुतियों तथा कल्पित साक्ष्यों की सहायता लेनी पड़ती है। विद्वान् अभी तक इस तथ्य पर एकमत नहीं हो पाए हैं कि भर्तृहरि नामक कितने लेखक हुए हैं। उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार, दो या दो से अधिक भर्तृहरि नामक लेखक संस्कृत साहित्य में पाये जाते हैं। प्रसिद्ध विदेशी यात्री **'इत्सिंग'** के साक्ष्यों के अनुसार 'वाक्यपदीयम्' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक भर्तृहरि सन् ६५२ ई० में मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे[७]। 'बौद्धधर्म का इतिहास' के लेखक, आधुनिक इतिहासकार **श्री तारानाथ** इससे पृथक् भी एक भर्तृहरि को स्वीकार करते हैं जो कि मालवा के शासक थे और प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक **धर्मकीर्ति** की मृत्यु के समय विद्यमान थे। इन धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी से पूर्व है। इनके अलावा एक भर्तृहरि और भी हैं जिनके विषय में अनेकानेक जनश्रुतियां प्रचलित हैं। और सम्भवतः शृंगारादि शतकों के लेखक भी यही थे। किन्तु इन सबके बावजूद यह कहना अभी भी कठिन है कि 'भृंगाष्टकम्' के रचयिता इनमें से कौन हैं? पर इतना अवश्य है कि इसका लेखक इन्हीं भर्तृहरि में से कोई एक हैं; क्योंकि सदियों से इन पद्यों के लेखक के रूप में भर्तृहरि का उल्लेख होता आ रहा है।

यहां मैंने इस पाण्डुलिपि से सम्बन्धित कतिपय संक्षिप्त विवरणों को मात्र विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया है ताकि सदियों से जनसामान्य से दूर तथा अन्धेरे में पड़ा यह लघुकाय काव्य 'भृंगाष्टकम्', पुनः अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के साथ संस्कृत-समाज तथा काव्य प्रेमियों के बीच अपना उचित स्थान पा सके। इस प्रसंग में यह मेरा अत्यन्त लघु प्रयास है; जबकि इस दिशा में अभी भी बहुत कुछ अनुसन्धान करना बाकी है। अतः इस लधु प्रयास के माध्यम से मैं शोध एवं अनुसन्धान प्रेमियों तथा प्राच्यविद्या में रुचि रखने वाले विद्वानों से प्रार्थना करूंगा कि वे उन तमाम काव्यों, (जो कि हस्त लेखों के रूप में देश विदेश के अनेकानेक पुस्तकालयों में पड़े हैं) को प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयास करें, और साथ ही 'भृंगाष्टकम्' को भी शोध एवं अनुसन्धान का विषय बनाएं और इसे इतिहास के गुमनाम पृष्ठों से साहित्याकाश के निर्मल प्रकाश में लायें।

शोधार्थियों की सहायता एवं इस लधु काव्य पर कार्य करने वाले अनुसन्धानप्रेमियों की सहूलियत के लिए हम यहां 'भृंगाष्टकम्' की पाण्डुलिपि को यथावत् प्रस्तुत कर देते हैं। यह पाण्डुलिपि 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' में सुरक्षित है, और इसे उपलब्ध कराने हेतु मैं सभा के सदस्यों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं; और आशा करता हूं कि प्राच्यविद्या में रुचि रखने वाले अनुसन्धान प्रेमी विद्वान् शीघ्र ही 'भृंगाष्टकम्' को इसके अन्यान्य हस्तलेखों से मिलाकर शुद्ध रूप देकर संस्कृत काव्यप्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा भर्तृहरि के इस अज्ञात लघुकाव्य को संस्कृत साहित्य के अभिनव इतिहास में सप्रमाण स्थापित करेंगे।

"भृंगाष्टकम्"

श्री रामचन्द्राय नमः। राधाकृष्णाय नमः॥

गन्धाढ्यां नवमल्लिकां मधुकरस्त्यक्त्वा गतो यूथिकाम्
दैवात्तां च विहाय चम्पकवनं पश्चात्सरोजं गतः।
बद्धस्तत्र निशाकरेण विधिना क्रन्दत्यसौ मूढधीः
मां (?) तोषेण विना पराभवपदं प्राप्नोति मूढो जनः॥१

अलिरसै नलिनीनववल्लभाः कुमुदिनीकुलकेलिकलारसः।
विधिवशेन विदेशमुपागतः कुटजपुष्परसं बहु मन्यते॥२

गन्धाढ्यासौ भुवनविदिता केतकी स्वर्णवर्णा
पद्मभ्रान्त्या मधुपलिकरः पुष्पमध्ये पपात।
अंधीभूतः कुसुमरजसा कंटकैश्छिन्नपक्षः
स्थातुं गन्तुं द्वयमपि (शषे ?) नैव शक्नोद् (?) द्विरेफः॥३

नीतं जन्म नवीननीरजवने पीतं मधु स्वेच्छया
मलत्याः कुसुमेषु शंततमहो केली कृता हेलया।
येनेयं मधुगन्धलुब्धमनसा गुंजालता सेव्यते
हा विधि! दैववशात्तयेव मधुपः कां कां दशामागतः॥४

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम् भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥५

येऽमीते मुकुलोद्गमादनुदितं त्वामाश्रिताः षट्पदः
ते भ्राम्यन्तफलाद्बहिः बहिरहो दृष्ट्वासनं भाष्यते।
ये कीरास्तव दृग्पथं न च गतास्ते त्वत्फलाभ्यन्तरे
धिक्तामाम्रतरोः परापरपरिज्ञानात्र विज्ञो भवान्॥६

दृष्ट्वा स्फीतो भवदलिरसौ स्वेतपद्मं विसालं
चित्रं चित्रं किमिति किमिति व्याहरन्निष्पपात।
नासीद्गंधो न च मधुकणाः नापि तत्सौकुमार्यं
घूर्ण मूर्धन्याश्जपतितशिराः व्रीडया निर्जगाम॥७

पलासकुसुमभ्रान्त्या (?) शुकतुण्डं मधुव्रतः।
पतत्येकशुकोऽप्येनं जम्बुभ्रान्त्या जिघासत (?)॥८॥

"इति भृंगाष्टकम् सम्पूर्णम्।"

सन्दर्भ :

१. देखें, 'संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची' भाग ३, पृष्ठ ४७८, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।
२. व्याकरण की दृष्टि से पूरा पद अशुद्ध है और यहां 'राधाकृष्णाभ्यां नमः' होना चाहिए।
३. प्रस्तुत संग्रह 'भारतीय विद्या भवन, मुंबई' से १९४८ ई में प्रकाशित हुआ है, विषेश विवरण के लिए इसे देखना चाहिए।
४. देखें, उपर्युक्त संग्रह की पृष्ठा संख्या १८८ पर 'रात्रिर्गमिष्यति' इत्यादि पद्य।
५. सम्बद्ध विवरण हेतु देखें, उपर्युक्त संग्रह की पृष्ठ संख्या १५६ पर उद्धृत पद्य।
६. प्रस्तुत समस्त संकलनों/संग्रह ग्रन्थों/सुभाषितसंकलनों की सूचना, प्रो० कौशाम्बी के संग्रह से पाई गयी है।
७. There are four major candidates for the honour The best known is the grammarian Bhartrihari who wrote the "Vakyapadiya", and whose death, according to "I-tsing, occurred about A D 652 (Kosambi, p 79)
८. यहां ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत पाण्डुलिपि में पद्यों को अत्यन्त अशुद्ध रूप से लिखा गया है, अतः प्राप्य अन्यान्य पाण्डुलिपियों के साथ मिलाकर इसका अध्ययन करना चाहिए।

———

गद्यगीतकार डॉ० माधवप्रसाद पाण्डेय

—अनुज प्रताप सिंह

आधुनिक हिन्दी गद्य-प्रधान शैली की हिन्दी है। इसीसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसको 'गद्य-काल' कहने की संभावना भी प्रकट की है। आज काव्य के प्रति वह लगाव नहीं रह गया है जो प्राचीन और मध्यकाल में रहा, पर काव्य का महत्व आज भी अपने ढंग का है। काव्य के साथ-साथ गेयता या गीतात्मकता का भी अपना महत्व है। भविष्य में भी साहित्य की समृद्धि में इनका योगदान रहेगा। आधुनिक काल खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का स्वर्ण-युग है। इसका प्रारम्भिक गद्य-काल प्रमुख चार लोगों के माध्यम से सामने आया। सब की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्रारम्भिक चार गद्यकार ये हैं - (1) लल्लू जी लाल (2) सदल मिश्र (3) मुंशी सदासुख लाल (4) सैयद ईंसा अल्ला खाँ। नयी शिक्षा व्यवस्था से भी हिन्दी गद्य के विकास को गति मिली। सामाजिक धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों ने इसी शैली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। फलत: खड़ी बोली गद्य की विविध विधाओं का विकास होता आ रहा है। ऐसी ही विधाओं में एक प्रिय विधा गद्यगीत भी है।

इसको लोगों ने भाव-प्रधान निबन्ध भी कहा है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, न यह भाव-प्रधान निबन्ध है और न गद्य-प्रधान गीत। बाबू गुलाबराय ने इन दोनों का पार्थक्य निरूपित करते हुए लिखा है— "दोनों में भावना का प्राधान्य तो अवश्य है, किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्यकाव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण यह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृंखला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है, किन्तु गद्य-काव्य एक निश्चित ध्येय की ओर जाता है, उसमें इधर-उधर विचरण की गुंजाइश नहीं।" बाबू गुलावराय ने गद्य-काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आगे लिखा है— "गद्य-काव्य की भाषा गद्य की होती है, किन्तु भाव प्रगीत काव्यों के। गद्य शरीर में पद्य की आत्मा बोलती दिखाई देती है। भाषा का प्रभाव भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरल और संगीतमय होता है।" गद्य-काव्य के सम्बन्ध में हिन्दी के अनेक विद्वानों ने अपने मत दिये हैं— जिनसे इसके गुणों पर प्रकाश पड़ता है— रायकृष्ण दास ने कहा है— "हिन्दी में कविता और काव्य शब्द पद्यमय रचनाओं के लिए ही रूढ़ हो गये हैं, यद्यपि वस्तुत: कोई भी रचना रमणीय हो— काव्य या कविता है। इसी कारण गद्यमय रचना के लिए हमें गद्य-काव्य या गद्यगीत का प्रयोग करना पड़ता है।" वियोगी हरि ने गद्य-काव्य और पद्य-काव्य को एक ही माना है। छन्दों में भावों को बाँधा जाय या स्वतन्त्र रहने दिया जाय— कोई अन्तर नहीं पड़ता, हाँ, संगीत को अपने स्वरूपों में अपने प्रकारों में रहना चाहिए। सद्गुरुशरण अवस्थी के

शब्दों में कल्पनाप्रधान आलेख, जिसमें रागत्व मिश्रित हो और बुद्धित्व नितान्त अप्रधान हो उसे गद्य काव्य कहते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "गद्यगीत साहित्य की भावात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें कल्पना और अनुभूति काव्य-उपकरणों से स्वतन्त्र होकर मानव जीवन के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त और कोमल वाक्यों की धारा में प्रवाहित होती हैं।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "भाव वेग के कारण एक प्रकार का लययुक्त झंकार होता है, जो सहृदय पाठक के चित्त को भावग्रह के अनुरूप बनाता है।" फलत: इस विधा के अधोलिखित गुण स्वीकारे जा सकते हैं—
(१) काव्यत्व (२) कल्पना (३) केन्द्रीयता (४) निबन्धात्मकता (५) गेयता (६) भावात्मकता (७) शब्दों का सुचारु चयन (८) कोमल भाषा (९) प्रेम (१०) राष्ट्रीयता (११) ऐतिहासिकता (१२) सांस्कृतिक परिवेश (१३) नीजीपन (१४) प्रकृति-चित्रण (१५) लालित्य।

अत: यह नीजी भावों को व्यक्त करने वाली एक विशेष प्रकार की भावपूर्ण· विधा है। इसका माध्यम तो गद्य होता है, पर इसमें छन्दोबद्ध काव्य-सी सरसता, गेयता और भावुकता परिलक्षित होती हैं। गद्यगीत में काव्यों या अनुभूतियों का केन्द्रीयकरण होता है। भावात्मकता, वैयक्तिकता, चित्रात्मकता, लयात्मकता आदि विशेषताओं के आधार पर गद्यगीत विशिष्ट बन जाता है। यह सामान्य गद्य की अपेक्षा अधिक अलंकृत, प्रवाहपूर्ण, बिम्बात्मक, सरल एवं माधुर्यमण्डित रचना होती है। इसमें रूपकों और अन्योक्तियों का प्राधान्य रहता है।

हिन्दी में इस प्रकार की रचनाएँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कृति 'गीताञ्जलि' के प्रभाव पर लिखी गयी हैं। १९१६ ई० में बाबू रायकृष्ण दास की 'साधना' नामक कृति प्रकाशित हुई थी। जयशंकर प्रसाद जी ने भी कुछ गद्यगीत लिखे थे— जो प्रकाश में नहीं आ सके हैं। फलत: रायकृष्ण दास ही इस विधा के प्रवर्तक हैं। आगे चलकर छायावाद के साथ-साथ इसका विकास हुआ। इस विधा की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं— रायकृष्ण की 'साधना', 'संलाप', 'प्रवाल', 'प्रवाह', 'छायापथ'; वियोगी हरि कृत 'तरंगिणी', 'आर्तनाद', 'भावना', 'श्रद्धाकण' चतुरसेन शास्त्री कृत 'अन्तस्तल' 'तरलाग्नि'; सद्गुरु शरण अवस्थी कृत 'भ्रमित पथिक'; वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'हृदय की हिलोर'; माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'साहित्य देवता'; अज्ञेय कृत 'भग्नदूत' और 'चिन्ता'; डॉ० राम कुमार वर्माकृत 'हिमहास'; दिनेश नन्दिनी कृत 'शबनम', 'मौलिक माल', 'शरदीप', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशीरव', 'उन्मन', 'स्पंदन'; तेजनारायण काक कृत 'निर्झर' और 'पाषाण'; राजेन्द्र सिंह कृत 'मौन के स्वर'; डॉ० रघुवीर कृत 'जीवनधूलि'; चन्द्रिका प्रसाद श्रीवास्तव कृत 'अतरंगिणी'; ठाकुर रामअधार कृत 'लहर पंथी' और क्रान्ति त्रिपाठी कृत 'जीवनदीप' आदि उल्लेखनीय हैं। फुटकल रूप में भी बहुत कुछ लिखा गया है।

इस विधा के माध्यम से गद्य एक सरस और गेय शैली में सबके सामने आया। वियोगी हरि ने गाँधी जी द्वारा किये गये कार्यों तथा सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए 'श्रद्धाकण' का प्रणयन किया। चतुरसेन शास्त्री ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत 'मरीखाल की हाय'

तथा 'जवाहर' नाम की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' ने आराधना में प्रेमिका को प्रभु का पद देकर उसकी आराधना की। दिनेश नन्दिनी चौरड़िया की रचनाएँ सर्वाधिक संख्या में प्रकाशित हुईं जिनमें 'शारदीमा', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशीरव', 'उन्मन', 'स्पंदन' विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन रचनाओं का मूल स्वर राष्ट्रीय और आध्यात्मिक प्रेम से जुड़ा हुआ है। संयोग-वियोग के मनः प्रलाप भी विद्यमान हैं। संस्कृत, अरबी, फारसी और उर्दू आदि भाषाओं से भावानुरूप शब्द-चयन, दृष्टान्तों और सूक्तियों का यथास्थान प्रयोग इनके लेखन की निजी विशेषताएँ हैं। अज्ञेय जी की 'चिन्ता' की कुछ रचनाएं भी इसी शैली में हैं। अनेक नये शब्दों को भी इन कवियों ने गढ़ा है। गतिशीलता और गत्यात्मकता इस विधा की अपनी विशेषताएं हैं। लयात्मकता के साथ-साथ इसमें बौद्धिक विश्लेषण विद्यमान है। इससे हिन्दी को एक नया रचनाशिल्प मिला है। तेजनारायण काक कृत 'निर्झर और पाषाण' में 'मिट्टी के ढेले', 'चीटें' आदि सामान्य से विषयों का भी संक्षिप्त और संवेदनपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' ने 'शुभ्रा' में नारी सम्बन्धी अपने इस दृष्टिकोण को व्यक्त किया है कि प्रेम का सम्बन्ध शरीर से नहीं है। इसके साथ-साथ राष्ट्रीय प्रेम की धारा भी चली, माखनलाल चतुर्वेदी की कृति 'साहित्य देवता' दर्शनीय है। डॉ० रघुवीर सिंह ने 'शेष स्मृतियाँ' में मुगलकालीन खंडहरों को आधार बनाकर जीवन की विविध दशाओं का चित्रण किया है। ब्रह्मदेव ने 'भारतभूमि' में शरणार्थी-समस्या आदि विषयों को प्रतिपादित किया है। 'निशीथ', 'आँसू भरी धरती' और 'उदीचरी' उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। रंगनाथ दिवाकर ने 'अन्तरात्मा' से भक्त दिल की भावना को अपने ढंग से व्यक्त किया है। राजेन्द्र सिंह ने 'मौन के स्वर' में जीवन सत्यों को अपने ढंग से उकेरा है। उन पर खलील जिब्रान का प्रभाव है। महावीर शरण अग्रवाल ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली के अनुकरण पर 'गुरुदेव' में अरविन्द की विचारधारा का भावात्मक निरूपण किया है।

इस विधा में प्रेम की बहुलता है। एकान्त क्षणों की भावात्मक आकुलता को प्रकट करने के लिए कुछ लोगों ने इसको माध्यम बनाया है। इस लघु, पर अपरिहार्य विधा की परम्परा में डॉ० माधव प्रसाद पाण्डेय एक अनिवार्य कड़ी हैं। वे साठोत्तर प्रमुख गद्यगीतकारों में से हैं। तीन जुलाई १९२८ ई० में उत्पन्न होकर पाण्डेय जी ने उच्च शिक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त उन्होंने ३६ वर्षों तक अध्यापन और लेखन का कार्य किया। अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त भी वे साहित्य रचना में लगे हुए हैं। गद्यगीतों पर उनके शोध और समीक्षा के कार्य भी हैं। अनेक विधाओं के साथ पाण्डेय जी के गद्य-गीत-संग्रह भी प्रकाशित हैं—

(१) मधुगीत (१९६४ ई०)
(२) छितवन के फूल (१८७४ ई०)
(३) मधुनीर (१९८५ ई०)
(४) स्वर्णनीरा (१९८६ ई०)
(५) मधुमास का नायक (१९८८ ई०)

यहाँ सब पर अलग विचार करना संगत जान पड़ता है—

(१) मधुगीत—

इसमें पाण्डेय जी के १९६० ई० से लेकर १९६४ ई० तक के ६६ गद्यगीत हैं। प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य का इनमें सहज चित्रण है। यह ऋतुओं का देश प्रकृति के विविध रूपों को सजाता और संवारता रहता है। मानव मन अपने ढंग से इससे जुड़ता और बिछुड़ता रहता है। संयोग-वियोग दोनों के लिए यह उद्दीपन विभाव का काम करती है। ग्रामाञ्चल की प्रकृति का बड़ा सुन्दर चित्रण है। सटीक बिम्ब-विधान बड़े काम के हैं। मुखर भाषा-शैली भावाभिव्यक्ति में सफल है। सुन्दर सम्बोधन अपना विशेष महत्व रखते हैं। प्रकृति में विचरती कृषक सुन्दरियों की छवि बड़ी मुग्धकारी है। पुस्तक को पढ़ते समय गद्य-पद्य दोनों शैलियों का आनन्द मिलता है। मानवीकरण की रीति छायावादी-सी लगती है। सजीव चित्रण सफल हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया के भाव बड़े ढंग से व्यक्त हैं। मानव और प्रकृति का नैसर्गिक चित्रण बड़े आकर्षक हैं। यथार्थ और मनोविश्लेषणात्मक घटकों का समुचित उपयोग किया गया है। भाव, भाषा और शैली का संगम साहित्यिक-प्रयाग का सुख देता है। रचनाकार का अन्दाज बड़ा सटीक और सीधा है। सब में एक व्यापक और सूक्ष्म चेतन सत्ता है— वही सब को जोड़ती है। रूपक, सांगरूपक उत्प्रेक्षा, उपमा, अलंकारों की विशेष प्रतिष्ठा है। सिद्धान्त निरूपण भी सहज शैली में है। अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत हैं। गांव के बिम्ब सबसे अधिक बनते हैं। वहाँ गाये जाने वाले संगीतों की ओर संकेत है— ''प्रकृति की सुन्दरता, मधुरता और मादकता से मानव विमुग्ध हुआ। खलिहान पर चाँदनी बरसी, रखवाले की तबीयत शीतल हो गयी। हृदय का दर्द उमड़ने लगा चैता का गीत बनकर। प्रकृति बधू शृंगार करके सामने हुई और जिन्दगी की हर डाल को हरियाली मिली, हर कली को मुस्कान। लोगों का कहना सही हुआ कि बसन्त ऋतु आ गयी (पृ० ११)।'' सौन्दर्य, माधुर्य, मादकता और मनोजगत् के भावों पर रचनाकार की दृष्टि अधिक है। उसका अन्दाजेबयाँ बहुत अच्छा है। कल्पना तत्व का उपयोग यथार्थता को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसी से पाठक का विश्वास खण्डित नहीं हो पाता है, न तो रस के साधारणीकरण में कहीं बाधा पड़ती है। स्मृति संचारी भावों का पवित्र निरूपण है। सब कुछ कहा गया है, पर मर्यादा के साथ। पुरानी कथाओं और पुराणों को भी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है। ठीक ही है। लेखक की दृष्टि व्यापक है। उसके सामने व्यक्ति, समाज, प्रकृति, परम्परा और आधुनिकता है। मनोजगत् और अखण्ड राष्ट्र है। सब का क्रमशः विकास दिखाया गया है। सब की परिवर्तनशीलता भी स्वीकार की गयी है। अनेक चित्र गीत बन गये हैं। सहज प्रभावों को बड़ी ईमानदारी के साथ स्वीकार किया गया है। दर्शन और स्पर्श जन्य प्रभाव अपनी गुणवत्ता में एक-से-एक हैं। रचनाकार के मन में एक विराट् नैसर्गिक सौन्दर्य प्रतिष्ठित है— जो विविध रूपों में सर्व समक्ष हो सका है। रीतिकालीन लिजलिजे सौन्दर्य से रचनाकार उबर कर एक पावन परिणय को प्राप्त कर सका है। वह राग-विराग दोनों में संयमित है। आशा और विश्वास के प्रति आस्थावान् है।

रचनाकार ने भावात्मक, बिम्बात्मक, चित्रात्मक शैलियों का सुन्दर उपयोग किया है। तत्सम-प्रधान भाषा में भी व्यावहारिक, घरेलू और विदेशी शब्दावली है। भाषा-संरचना कहीं खटकती नहीं है। यहाँ दिखावा या बौद्धिक जाल नहीं है। प्रकृति, पशु, पंछी और मानव-भावों को एक साथ व्यक्त किया गया है। रचना में आकर्षण, जोश, सौन्दर्य, बिम्ब और चित्र, सत्य और कल्पना की अच्छी अन्विति है। निष्कर्ष में 'मधुगीत' सफल 'गद्य-गीत-संग्रह है।

२. छितवन के फूल—

यह पाण्डेय जी का दूसरा गद्यगीत संग्रह है— जो १९७५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें उनके ५० गद्यगीत हैं। प्रथम पुस्तक से इसमें अनेक गुण और आ गये हैं। भाषा-शैली का भी विकास हुआ है। भावों में कसावट आ गयी है। "बात पुरानी हुई, एक छितवन-शिशु अनजाने जन्मा जब उस पर नजर पड़ी तो वह खण्डहर की छाँव में धरती की गोद में प्रकृति के स्नेह के सहारे पल रहा था। पवन आता और उसे चूमता निकल जाता, वर्षा आकर उसे नहला जाती सूरज किरणों के हाथ बढ़ा उसे सहलाता और चाँद अपनी चाँदनी में उसे शीतल कर देता।" सजीव चित्रण शैली की जान है। प्रकृति के घटक पात्रवत हैं। मानव मन से सब की अन्विति की गयी है। रचनाकार को मानव मन के साथ-साथ पशु-पक्षी और प्रकृति के मन की भी बड़ी अच्छी पहचान है। प्रेम सबके मन में प्रतिष्ठित है, वह कण-कण और मन में समाया हुआ है। भाव, अनुभाव और उद्दीपनों के सुन्दर चित्रण हैं। सात्विक शृंगार रस के लिए यह संग्रह अच्छा उदाहरण है। प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण अपना विशेष महत्व रखता है। शृंगार के संयोग-वियोग पक्षों का अपना विशेष महत्व है। प्रेम का विकास दोनों से होता है। मानव मन सबका केन्द्र होता है। "जिन्दगी में मिलन-विछोह का संघर्ष रात के दीप-झंझा का संघर्ष है। एक सुन्दर दूसरा असुन्दर।" —(पृ० १८)। संयोग-वियोग की विविध दशाओं का बहुत सहज चित्रण है। बिम्ब-विधान है। पावन समर्पण है। कथन प्रमाण के साथ हैं। उद्धरण के आयाम विस्तृत हैं। इस संग्रह में वैचारिक प्रौढ़ता पहले से अधिक आ सकी है। मौन अभिव्यक्ति भी है। जिन्दगी के व्यापक आयामों को प्रस्तुत किया गया है। ज्ञात-अज्ञात, प्रस्तुत-अप्रस्तुत सूक्ष्म-स्थूल, नित्य-अनित्य सब का निरूपण है। यथार्थ और कल्पना का सुन्दर समायोजन है। एक हद तक कल्पना भी यथार्थ है। सब की सत्ता को यहाँ स्वीकार किया गया है। थोड़े में बहुत कुछ कह दिया गया है। रचनाक़ार की अनुभूतियाँ बहुत विश्वसनीय हैं। उनकी जीवन-जगत्-दृष्टि बड़ी सुन्दर है।

कथ्य के साथ-साथ शिल्प की दृष्टि से भी रचना का अपना विशेष महत्व है। अनावश्यक वचनावली से रचना मुक्त है। गद्य-गीत विधा का पूर्णतया पालन किया गया है। इस परम्परा में इस संग्रह का अपना महत्वपूर्ण स्थान बनता है।

३. मधुनीर—

मधुनीर पाण्डेय जी का तीसरा संग्रह है। पिछले दोनों संग्रहों से यह बड़ा है। इसमें

१०० गद्य-गीत हैं। हृदय और बुद्धि, मन और तन, प्रकृति और पुरुष का इसमें अद्भुत समायोजन है। रचनाकार परिपक्वता की ओर बढ़ सका है। कथ्य और शिल्प के गुणों में इजाफा हुआ है। इसमें रचनाकार ने डाटशैली का नया और अच्छा प्रयोग किया है। ध्वन्यात्मक और कारकीय प्रयोग सराहनीय हैं। शिल्प की दृष्टि से पिछले संग्रहों से यह संग्रह अधिक सम्पन्न है। विचार एवं चिन्तन पक्षों में भी प्रौढ़ता आयी है। ऋतुओं और प्रकृति रूपों के विविध प्रसंग सराहनीय हैं। रोमांस के व्यापक और पावन रूप दर्शनीय हैं। राग विराग के समान चित्रण अपना विशेष महत्व रखते हैं। भाषा की चित्रात्मकता और बिम्ब-विधान सराहनीय हैं। यथार्थ और कल्पना का सराहनीय समन्वय है। अनुभूतियों का अनुभवों से बड़ा सटीक ज्ञान हो पाता है। नयी उपमाएँ सराहनीय हैं। इन्द्रिय का पूर्ण मानव की भाँति वर्णन बहुत अच्छा है। मौलिक उद्भावनाएँ और मार्मिक पक्षों की पहचान रचनाकार को बहुत सटीक है। आघात के प्रयोग भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्व के हैं। रचनाकार का उर्वर हृदय सदा नवीनता को लेकर उपस्थित होता है। परम्परा और आधुनिकता से भी उसका गहरा सम्बन्ध है। आँखों के विविध रूप और उनके प्रभाव सराहनीय हैं। आदर्श लौकिक प्रेम है। रचनाकार ने अब तक के जीवन और जगत् के अनुभवों को इसमें रखा है। सर्वत्र अच्छाइयों एवं सौन्दर्य को प्रस्तुत करने की रचनाकार की शैली अद्भुत है। रचनाकार का भाव-जगत् चुकता नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड का सार एक प्रेम ही है जो कण-कण में समाया हुआ है।

रचनाकार का समष्टि पक्ष के साथ-साथ व्यण्टि पक्ष भी बड़ा सबल है। प्रेम में समर्पण आवश्यक है—

"प्रिय समर्पण के वे पल स्मृति के कपोलों को अब भी चुम्बन-दान निहाल कर रहे हैं। प्रणय से आर्द्र तुम्हारी झुकी पलकें उठीं और फिर चितवनों का संगम हो गया। तुम्हारी दृष्टि के वे प्राणवान संकेत कुहुक से मेरे हृदय पर छा गये और तभी स्नेहिल नज़रें झुकाकर तुमने अपने को मेरी ओर बढ़ा दिया। आह प्रिय! मेरा हृदय तुम्हारे हृदय से जा मिला। गंगा यमुना के पुनीत मिलन सदृश हम दोनों के हृदयों का संगम पवित्र है, अमर है।" (पृ० ५१) भारतीय संस्कृति, सभ्यता और चिन्तन के प्रति रचनाकार कायल है। सब कुछ कहा गया है मगर एक ढंग को अपनाकर। स्नेह और समर्पण का मोहक संगम कई स्थानों पर चित्रित है। रीति कालीन गलित अभिसारों को यहाँ पावन किया गया है। इन्द्रियजन्य स्थूलता को नकारने की सफल कोशिश की गयी है। मादकता का संयमित प्रभाव है। ऊहात्मक उक्तियों को नकार कर स्वाभाविक प्रभावों को लिया गया है— "प्रियतम! पर दूरी का दर्द कोकिल की कूक के मिस हृदय में साल उत्पन्न करता है। वियोगानुभूति की शीतल पछुवा से हृदय का अनुराग सिहर उठता है। ऐसे अवसर पर तुम्हारी मुस्कान की मीठी धूप के लिए मेरे हृदय का अनुराग तरसता है।" कितना शिष्ट उद्दीपन विभाव-निरूपण है। ऐसे अवसरों पर रीतिकाल में अतिशयोक्ति का सहारा लेकर कुछ-का-कुछ कहा गया है। समय का भी प्रभाव है। रस के साधरणीकरण में कहीं बाधा नहीं पहुचती है। अवस्थाजन्य

भावों का बहुत ईमानदारी से वर्णन है। कुछ प्रयोग बहुत अच्छे बन गये हैं—

"लाज की लाली गालों पर फैलकर प्यार के पानी में नहा उठती।" (पृ० ८५) वियोग की जिन दशाओं को पाकर रीतिकालीन नायिकाएँ दुःख में दुबली होती-होती खटमल और चीलर-सी हो जाती हैं— उन्हीं दशाओं को पाकर पाण्डेय जी की वियोगिनियाँ एक स्तर का जीवन जी लेती हैं। यही संगत भी लगता है। माघ के महीने में लू चलाने से कोई फ़ायदा नहीं है। न तो ऊहात्मक चमत्कारों में चहकने वाले आज दरबार रह गये। पाण्डेय जी रीतिकालीन सामन्ती भावों से मुक्त हैं। वे सत्य, सुन्दर और मंगल से मण्डित भावों को लेकर चलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह संग्रह बड़े उपयोग का है।

४. स्वर्णनीरा—

यह रचनाकार का चौथा संग्रह है। इसमें ५० गद्य-गीत हैं। प्रेमिका-प्रिय, प्रेम और विरह-मिलन की उत्कट कामना इन गीतों में भी है। विरह, उल्लास, उदास और समर्पण की बातें बार-बार आयी हैं। पिछले संग्रह से यह हटकर चलता है। अपने जीवन और जगत् के अनुभवों को लेखक ने बड़े ढंग से कहा है। शैली में और अधिक परिमार्जन हुआ है। अन्तः-वाह्य के ऐक्य को बड़ी बारीकी से कहा गया है। जो भी बाहर घटता है वह भीतर भी घटता है। आस्तिकता एवं देवी-देवताओं के प्रति लगाव इसमें अधिक बढ़ गया है। इस देश की आस्तिकता अपनी थाती है। इसीसे इसकी अस्मिता बनी हुई है— "तुम्हारी स्मृति का एक पर्व और बीत गया। प्रतिवर्ष की भाँति वैशाखी पूनम आयी और तुम्हारे नामकीर्तन से जनमानस को जगाती चली गयी। प्रभु तुम्हारी याद एक पुनीत आदर्श का पुनीत स्मरण है। हृदय में उतरता तुम्हारा रूप-चित्र पवित्र प्रेम का पवित्र अवतरण है। तुम्हारा ध्यान जीवन में त्याग की प्रेरणा है और तुम्हारा चिन्तन सत्य की अवधारणा। देव! कपिलवस्तु के तुम्हारे उपवन सरिस आज भी हैं, पर उदास-उदास-से। उपवन के पंछी डरे-डरे से। न्याय, दया का दानी इस उक्ति के सहारे उन्हें जीवन-दान दिलाकर अभय का वरदान देने वाले हाथ नहीं।" (पृ० १२७-२८) आज जो आस्थाओं पर कुठाराघात हो रहा है, लेखक को इसका कष्ट है। अपनी वेदना को उसने व्यक्त किया है। वास्तव में आज त्याग, बलिदान का महत्व समाप्त होता जा रहा है। लोग चलते हुए क्षण के साथ ही समझौता करते हैं। अभिनव संस्कृति बड़ी बंकिम हो गयी है।

प्रकृति, काल, परिस्थितियों, घटनाओं और भावों के बिम्ब तथा चित्र अपना विशेष महत्व रखते हैं। खण्डित और पूर्ण दोनों बिम्ब बनते हैं। इतिवृत्त और शिथिल वर्णनों से हटकर यहाँ संक्षिप्तता का सहारा लिया गया है। आज की दुनिया कम्प्युटराइज्ड होती जा रही है। आदमी व्यस्त होता जा रहा है। भाव-जगत् और ग्रामीण बिम्ब अधिक उभरते हैं। मानव-जगत् के साथ-साथ पशु और पक्षी-जगत् को भी ले लिया गया है।

शिल्प गद्य का विकास सराहनीय है। शैली व्यक्तित्व का निर्माण करती है। शिल्प का विकास एक दिन में सम्भव नहीं है। अनवरत साधना ही सफलता दे पाती है। विकास की गति क्रमशः होती है। पाण्डेय जी की रचनाओं के साथ तिथियाँ भी दी गयी हैं—

उनसे शैली-विकास-क्रम का पता चलता है। रचनाकार एक शिल्पी होता है। जिस प्रकार एक शिल्पी एक-एक टाकी का हिसाब रखता हुआ मूर्ति का रूप लेकर आगे बढ़ता चलता है और एक दिन सुन्दर मूर्ति बन जाती है। यही दशा साहित्य रचना क्षेत्र में भी समझनी चाहिए। पाण्डेय जी ने इसका बराबर ध्यान रखा है। एक-एक शब्द और वाक्य को तौल-तौलकर रखा गया है। कहीं कुछ भी फाजिल नहीं है। भाव-भाषा और शैली के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

५. मधुमास का गायक—

यह पाण्डेय जी के गद्य-गीतों का पाँचवाँ संग्रह है। इसमें कुल १०० गद्य-गीत हैं। इसका पहला गद्यगीत ही मन को मुग्ध कर लेता है। प्रकृति की मनोरम सम्पदा का बहुत हृदयहारी और नयनाभिराम चित्रण है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों की लड़ियाँ लग गयी हैं, पर अतिशयोक्ति का राज्य स्थापित नहीं होने पाया है। नैसर्गिक सौन्दर्य की छटा प्रतिबिम्बित होकर सामने आ जाती है। यह देश गाँवों का देश है। इसी से पाण्डेय जी ने ग्रामीण प्रकृति-सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया है। डाट शैली का इसमें भी प्रयोग है। इससे जिज्ञासा में वृद्धि होती चलती है। पाठक अपनी ओर से भी कुछ सोचने के लिए विवश हो जाता है। ऋतुओं और मानव स्वभाव को एक में मिलाकर चित्रण है— जो बड़ा ही स्वाभाविक लगता है। इस संग्रह में सारगर्भिता की वृद्धि हुई है। सामासिक और सूत्रात्मक शैली का सहारा अधिक लिया गया है। स्वप्रिल और काल्पनिक जगत् को यथार्थ से जोड़ा गया है। सब का अपना-अपना क्षेत्र होता है। नींद की भी अपनी दुनिया होती है। लोक और शास्त्र दोनों परम्पराओं को समेटता गया है। रचनाकार के भावजगत् और व्यवहारजगत् बहुत सम्पन्न हैं। वियोगी मन के विविध रूप यहाँ भी मिलते हैं। कवि-जैसे रचनाकार के काल्पनिक रूप अद्भुत आकर्षण उत्पन्न करते चलते हैं। प्रेम का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। प्रेम ही सबको मिलाता, जिलाता और स्मरण कराता है। वह कभी व्यर्थ नहीं जाता है। सबको एक सूत्र में बाँधने की उसमें क्षमता है। भावों की बस्ती के संयोग और वियोगजन्य दोनों रूप निरूपित हैं। प्रेम के साथ-साथ युगबोध की बातें भी हैं। उत्तम साहित्य आत्मबोध से लेकर युगबोध तक फैला रहता है। व्यापक दृष्टि को पाकर सामान्य चीजें भी महान् हो गयी हैं— "टोकरी और कुदाल तेरे सिर और हाथ से ही सम्बन्धित नहीं, प्रस्तुत सम्पूर्ण देश और समाज के विकास से जुड़े हुए हैं, उसकी समृद्धि के प्रतीक हैं। अपने शरीर को धूलधूसरित कर तू समाज के शरीर को स्वच्छ रखता है। तेरा श्रम सार्थक है। उसकी बड़ी महिमा है।" (पृ० २७) आज इस प्रकार के विचार लेकर लिखने वाले नाममात्र के लोग हैं। मानव पात्रों के समान प्रकृति के घटक वार्तालाप करते हैं। नियतिवाद, भाग्यवाद और कर्मवाद में विविध पात्रों की आस्था है। कहीं-कहीं रीतिकालीन प्रेम के घटक भी मिल जाते हैं। 'मधुमास' में लेखक का मन सबसे अधिक रमा है। अनेक टटके बिम्ब बनते हैं। उसके नैसर्गिक सौन्दर्य पर लेखक बार-बार रीझता है। इस संग्रह में प्रकृति पहले ग्रंथों से अधिक मुखर है। लेखक के अन्दाज बहुत सटीक हैं। स्मृतियों का भी अच्छा उपयोग

हुआ है। "मुस्कान की बरसात में नहाया तुम्हारा आनन जिसे मैं मुग्ध निहारता हूँ। काश! वही मौसम, वही सपना, वही स्वप्निल रूप..............सदा मेरे मन पर छाया रहता और मैं स्वयं को भूल जाता।" (पृ० ७७) चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन अवस्थाओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण है। जागरण से कम महत्व स्वप्न का नहीं है. वह भी एक पूरी दुनियाँ है, जीवन उसमें भी जीता है। सुखी-दुखी होता है।

उपसंहार—

पाण्डेय जी के गद्यगीतकार का पूरा व्यक्तित्व सराहनीय है। इस विधा के वे अच्छे रचनाकार हैं। गद्य-पद्य दोनों के सम्मिलित आनन्द को देने वाले उनके ये गद्य-गीत कभी भुलाये नहीं जा सकते। परम्परा से उनके नाम को विचलित नहीं किया जा सकता है। कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से वे बहुत ऊँचे लगते हैं। पढ़ते समय दोनों घटक आद्योपान्त आकृष्ट किये रहते हैं। 'को बड़ छोट कहत अपराध' (मानस), इन कृतियों को देखने के उपरान्त उनकी अन्य कृतियों को देखने की इच्छा प्रबलतम हो जाती है। ऐसे साहित्यिक तथा उनके साहित्य को हम जितना समझें उतना ही अच्छा है।

रामचरितमानस में भक्ति-निरूपण

—किशनराम बिश्नोई

गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस' हिन्दी साहित्य का ही नहीं, बल्कि विश्वसाहित्य की अमूल्य निधि है। यह प्रबंध काव्य भारतीय जीवन के अनेक सोपानों, पद्धतियों और जीवनविधियों का विश्वकोश है। जिसमें काव्यशास्त्र के सभी नियमों का पालन हुआ है। इसके साथ ही साहित्य के सभी रसों का वर्णन भी एक साथ प्राप्त हो जाता है। काव्यकला की दृष्टि से यह महाकाव्य समृद्ध और सम्पन्न होने के साथ ही इसमें आदर्श गृहस्थ जीवन, श्रेष्ठ राजधर्म, पवित्र पारिवारिक जीवन, पातिव्रत्य धर्म, मान-मर्यादा, लोकधर्म, भ्रातृधर्म, नारीभावना, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का संगम भी उचित रूप से हुआ है। 'मानस' में कवि- कल्पना और भक्ति-दर्शन, उक्ति-वैचित्र्य और सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से हुआ है। शास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने मुख्यतया धर्म, दर्शन और भक्ति के सभी सिद्धान्तों का यथायोग्य प्रयोग किया है जिसमें रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलंकार, पद-संघटना, छन्दोविधान और प्रबंध-संरचना का पूरा ध्यान रखा गया है। धार्मिक मर्यादा के अनुसार, महाकाव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलकामना भी की गयी है। दूसरी ओर वे मंगल-विधान को काव्य-महिमा का व्यावहारिक धर्म मानते हैं। उनके मतानुसार, काव्यकला की दोहरी कसौटी है, एक रमणीयता की और दूसरी श्रेष्ठता की। परन्तु तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में यह बात स्पष्ट कर दी है कि काव्य की श्रेष्ठता या महिमा की एकमात्र कसौटी उसकी लोककल्याणकारिता है। लोककल्याण एवं लोकमंगल की भावना को दृष्टिगत रखकर जो साहित्य सृजन किया जाता है वह साहित्य श्रेष्ठ माना जाता है। इस दृष्टि से 'रामचरितमानस' श्रेष्ठ महाकाव्य है।

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में राम के सगुण रूप का वर्णन युग-धर्म के आधार पर प्रस्तुत करके रामभक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। गुणधर्म की आवश्यकता के अनुसार मानवीय भावना को स्थापित किया। उन्होंने व्यक्तिगत मुक्ति के साथ ही लोक-कल्याण की भावना को उजागर किया तथा यह अनुभव किया कि लोक-संग्रह के लिए निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म निरर्थक है। विश्व को एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो दीन-दुखियों की पुकार सुन सके। तत्काल पहुँचकर उनकी रक्षा कर सके। अधर्म का नाश करके धर्म की प्रतिस्थापना कर सके। परिस्थिति का आग्रह था कि जनता को लोक रक्षक वर्णाश्रम धर्म पालक राम की आवश्यकता थी। 'शांडिल्य भक्तिसूत्र', 'नारद संहिता' आदि में भक्ति--आचार्यो ने भगवान् के प्रति परमप्रेम को भक्ति कहा है। तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की दास्य भक्ति का गौरवगान किया है। तुलसी के मतानुसार, भक्ति प्रेमस्वरूपा है। राम के प्रति प्रीति ही भक्ति है—

"प्रीति राम सों नीति पथ चलिय रागरिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥"[1]

यह बात नियतियुक्त है कि संतों की विचार-धारा प्रीतियुक्त है। इसीलिये उन्होंने सहज एवं शाश्वत प्रीति को भक्ति कहा है; जैसे—

"बिनु छल बिस्वनाथपद नेहू, राम भगत कर लक्षन एहू॥"[२]

भगवान् के प्रति प्रेम की माधुर्य-भावना, प्रेम की अतिशयता पर बल देने के लिए तुलसी ने उनसे प्रार्थना की है—

"कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहू मोहि राम॥"[३]

प्रेम में एकनिष्ठ साधना, मानवीय श्रद्धा इत्यादि गुणों का होना अत्यावश्यक है। तुलसीदास ने चातक पक्षी आदि उपमानों द्वारा भी भक्त की निष्कामता और अनन्य शरणागति का निदर्शन किया है—

"जन कहाइ नाम लेत हों किये पन
चातक ज्यों प्यास प्रेम पान की।
×× ×× ××
जदपि बिरज व्यापक अबिनासी, सबके हृदय निरंतर बासी
तदपि अनुज श्री सहित छारारी, बसतु मनसि मम कानन चारी॥"[४]

'रामचरितमानस' में तुलसी की भक्ति की तीन महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं: यथा एक वह रामभक्ति का मार्ग है, दूसरी वह वेदशास्त्र सम्मत है और तीसरी वह ज्ञान वैराग्य युक्त है।

"श्रुति संमत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहि नर मोहबस भरमे पंथ अनेक॥"[५]

तुलसीदास के अनुसार, राम आराध्य हैं। भगवान् के सभी अवतारों में उनके लोकरक्षक रूप की सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई है, उनमें भगवान् की तीन महती विभूतियों— शील, शक्ति और सौन्दर्य का पूर्ण रूप एक ही जगह देखने को मिलता है। अतएव वे राम भजन को राजमार्ग मानते हैं—

"गुरु कहो राम भजन मोहि नीको लगत राजडगरों सो।"[६]

उन्होंने श्रुतिसम्मत और ज्ञान वैराग्य युक्त रामभक्ति पर बल दिया है। 'मानस' का भक्ति-सिंद्धान्त समन्वयवादी है। वे निर्गुण और सगुण दोनों ही भक्तियों को उचित मानते हुए सगुण भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। एक ओर लक्ष्मण के प्रति आचारनिष्ठ भगवतभक्ति का उपदेश कराया तो दूसरी ओर शबरी के प्रति अध्यात्म रामायण की सर्वोपयोगी भक्ति का। सख्य, वात्सल्य, शांत और मधुर भक्तियों की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने दास्य भक्ति की अनिवार्यता पर बल दिया—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।"[७]

सांसारिक जीव अनेक प्रकार के दुखों से पीड़ित है। दुख की निवृति ही उसके सभी प्रयत्नों का प्रयोजन है। दुख के दो ही कारण हैं— अज्ञान और अभक्ति। अतएव दुख से मुक्ति पाने के दो ही मूल उपाय हैं— ज्ञान और भक्ति। इस दृष्टि से दोनों समान हैं—

"भगतिहि ज्ञानहि नहीं कुछ भेदा, उभय हरहि भवसंभव खेदा॥"[८]

तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। तुलसीदास के अनुसार, अभक्ति ही विपत्तियों का प्रधान कारण है—

"कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई, जब तब सुमिरन भजनु न होई।
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरि, माया खलु नर्तकी बिचारी॥"[९]

भक्ति भगवान को सदैव प्रिय है, इसलिए माया उसके सामने शक्तिहीन है। भक्ति का दरवाजा सबके लिए खुला है। भक्ति स्वयं में स्वतंत्र और अन्य साधनों के लिए भी आवश्यक है। वह फलदायक, सुखद और सुलभ है। उसमें असफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वह साधन भी है और सिद्धि भी।

"साधन सिद्धि रामपद नेहू॥"[१०]

स्वरूपगत भेद से भक्ति दो प्रकार की है— निर्गुण भक्ति— ज्ञानवादियों की निराकार ब्रह्म विषयक भक्ति है और सगुण भक्ति— जिसका संबंध साकार भगवान के रूप में गुण, रूप, लीला, धाम आदि से है। तुलसीदास 'रामचरितमानस' में दोनों ही प्रकार की भक्तियों को मान्यता देते हैं। उनके अनुसार—

"सगुनहि अगुनहि नहि कुछ भेदा॥"[११]

फिर भी उपासना की दृष्टि से वे सगुण भक्ति को श्रेष्ट मानते हैं—

"सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद नेम॥"[१२]

इसके अतिरिक्त 'रामचरितमानस' में नवधा भक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन हुआ है। तुलसीदास लोकदर्शी थे। उन्होंने व्यक्ति-कल्याण के साथ लोक-कल्याण करने वाले भक्ति-मार्ग का उपस्थापन किया। लोक-धर्म विरोधी भक्ति का खंडन किया। 'रामचरितमास' में उन्होंने भक्ति रस का वह साहित्य निर्मित किया जिसने देशकाल की सीमा को पार करके करोड़ों नर-नारियों को राममय बना दिया।

गोस्वामी तुलसीदास की मान्यताएं स्मार्त वैष्णव सिद्धान्त पर आधारित थीं। शंकराचार्य और वल्लभाचार्य की विचारधारा का भी उन पर प्रभाव था। मानस में तुलसीदास ने राम को परात्पर ब्रह्म बतलाया है। उनमें सगुण और निर्गुण दोनों की मान्यताएं स्थापित की हैं—

"निर्गुण सगुन विषम समरूप। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपम।
अमलमखिल मन वधम पारं, नौमि राम भंजन महि भारम॥"[१३]

राम की भृकुटि के विलास से सृष्टि और प्रलय होते रहते हैं—

"भृकुटि विलास सृष्टि लयहोइ, सपनेहूँ संकट परहि कि सोई।"[१४]

ब्रह्म के लिये इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं है—

"बिनु पद चलई सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।"[१५]

सगुन और निर्गुण में कोई भेद नहीं है—

"सगुनहि अगुनहि नहिं कुछ भेदा।
गावहि मुनि पुरान बुध वेदा॥"[१६]

मुनिजन लोग, वेद, पुराण भी मानते हैं कि ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में है। सर्वव्यापक और सार्वदेशिक सत्ता ही साकार और निराकार दोनों रूपों में ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यही परम सत्ता जब पृथ्वी पर अवतार लेकर अवतरित होती है तो साकार रूप में आती है और जब निराकार रूप में होती है तो वह निर्गुण रूप में व्याप्त हो जाती है। माया— यह माया भेदकारिणी, ठगिनी और मोह एवं ममता से युक्त है। वह राम की उपसत्ता मात्र है, क्योंकि वह राम से स्वतंत्र नहीं, वह तो राम की रचना शक्ति है—

"मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।।
××× ××× ×××
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी॥
तब प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥"[१७]

तात्विक दृष्टि से माया ईश्वर की शक्ति है परन्तु मन भी माया का रूप है, मोह और ममता भी उनके अंग हैं। माया के दो रूप हैं— विद्या और अविद्या। अविद्या से मनुष्य प्रपंच में पड़ता है और विद्या से वह भवबंधन से मुक्त हो जाता है। भक्त और संत को अविद्या नहीं व्यापती है—

"हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापई तेहि विद्या॥"[१८]

यदि ब्रह्म की सत्ता है तो माया की उपसत्ता है, माया है भी और नहीं भी। जगत मिथ्या होते हुए भी भासित होता है—

"रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ कालसोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहइ। जदपि असत्य देत दुख अहई।।
जो सपनै सिर काटै कोइ। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥"[१९]

माया का नाम और रूप दोनों में महत्वपूर्ण योगदान है। ये दोनों ही माया के रूप हैं। इनमें नाम अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि दोनों ही उपाधियाँ हैं। नाम निर्गुण और सगुण दोनों का नियामक है। राम ने कुछ प्राणियों का उद्धार किया है किन्तु राम नाम से तो असंख्य जीवों का उद्धार हुआ है—

"अगुन अखंड अनंत अनादि। जेहि चिंतहि परमार्थी॥...
नेति-नेति जेहि बेद निरूपा। निरानंद निरूपाधि अनूपा॥"[२०]

यह ब्रह्म अविगत, अलक्ष्य और विकार-रहित है। वह सच्चिदानंद है। यहां तुलसीदास ने अद्वैतवाद को अपनाया है। द्वैत के प्रति उनकी भावना 'विनयपत्रिका' में इस प्रकार व्यक्त हुई है—

"द्वैत रूप तमरूप परों नहि अस कछु जतन बिचारी॥"[२१]

निर्गुण ब्रह्म भक्त-प्रेम के वश होकर सगुण हो जाता है किन्तु गोस्वामी जी बताते हैं कि निर्गुण रूप सगुण की अपेक्षा सुलभ है। भगवान राम ने तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश का सृजन किया है। राम और सीता के विवाह में इन त्रिदेवों का अपनी-अपनी पत्नियों सहित उपस्थित होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि दशरथ पुत्र राम भगवान विष्णु के अवतार और उनसे भी बड़े थे। यद्यपि तुलसीदास ने शिव जी के लिए अत्यंत आदर और भक्ति का प्रदर्शन किया है तथापि शिव जी ने राम की प्रार्थना की है। तुलसीदास के लिए रामचन्द्र जी भगवान विष्णु और शिव से बहुत ऊँचे हैं। राम ने अपनी स्वयं की इच्छा से विष्णु का अवतार लिया था और यह इच्छा उनकी स्वयं की थी—

"इच्छामय नर वेष संवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥
××× ××× ×××
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार।
××× ××× ×××
चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥"[२२]

अतएव यह स्पष्ट है कि श्रीराम का अवतार निज इच्छा-निर्मित स्वरूप है। वे त्रिगुणातीत और चिदानंदमय हैं। अवतार के समय राम माला पहने हुए थे। जब राजा प्रजा को अत्यंत पीड़ित करता है तब गौ, ब्राह्मण, ऋषि, देव आदि की रक्षा करने, वर्ण-व्यवस्था को पुन: स्थापित करने तथा भक्त को प्रसन्न करने के लिए भगवान अवतार लेते हैं—

"नर तन धरेहु संत सुर काजा।
××× ××× ×××
धरहि भगत हित मनुज शरीरा॥[२३]

भगवान जब अवतार लेते हैं तो अपनी शक्ति सहित पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

लक्ष्मण जी के लिए भी स्पष्टत: अनंत और अहीश शब्दों का प्रयोग किया है। लक्ष्मण और बानर भी जो युद्धस्थल में लड़े थे, देवताओं के अंशावतार थे। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी ने विष्णु के दस अवतारों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है।

राम के कुलदेव सूर्य थे; जब राम की माता ने यह सुना कि राम का राज्याभिषेक होगा तो उन्होंने अपनी ग्राम-देवी की पूजा की थी। अयोध्यावासियों ने चित्रकूट पर पंचदेवों की उपासना की थी। ये पंचदेव गणेश, दुर्गा, शिव, सूर्य और विष्णु हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास ने स्वयं गणेश, हनुमान, देवी, श्रीरंग, नरनारायण, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, बिन्दुमाधव और शिव जी की स्तुतिया की हैं।

जीव अभिमानी, जड़ और परिच्छिन्न है अतएव ज्ञानी, अज्ञानी, सुखी, दुखी, मानी, अभिमानी समझ जाता है। वास्तव में जीव अविनासी, नित्य, चेतन, 'सुखाराशी' और अमल है। यद्यपि माया के प्रभाव के कारण इस प्रकार कलुषित हो जाता है; जैसे भूमि के कारण जल—

"माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य साया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मायाबस परिछिम जड़, जीव कि ईस समान।
हरष विषाद ग्यान अग्यान, जीव धर्म अहमिति
आकर चारि लच्छा चौरासी, जोनि भ्रमत यह जीव अबिनासी॥
भूमि परत पा ढाबर पानी, जनु जीव अबिनासी॥"[२८]

तुलसीदास कहते हैं— जीव ईश्वर का अंश है। गीता में लिखा है : 'ममैवांसो जीव लोके'। आगे वे कहते हैं कि—

"ईश्वर अंस जीव अबिनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।"[२५]

जीव की तीन अवस्थाएँ होती हैं जाग्रत, स्वप्न और सुपुप्ति। निद्रा में जीव शिवतुल्य. होता है, स्वप्न में जीव सृष्टि करता है और जाग्रतावस्था में जड़ दुखी और सांसारिक हो जाता है। गोस्वामी जी ने परम्परागत रूप से जीव के चार प्रकार माने हैं— उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज और चौरासी लाख योनियां भी मानी गयी हैं जिनमें जीव भ्रमण करता हुआ मानव शरीर को प्राप्त करता है—

"नर तन सम नहि कवनिउ देही, जीव चराचर जांचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसैनी ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर होहि विपय रत मंद मंदतर॥
काच किरिच बदले ते लेही, करते डारि परम मनि देहीं॥"

मुक्ति—साधारणतया जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुटकारा दिलाना ही मुक्ति है। तीनों तापों से पीड़ित मनुष्य मुक्ति चाहता है। तुलसीदास ने दो प्रकार की मुक्ति का उल्लेख किया

है— विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति। परम्परागत रूप से चार प्रकार की मुक्ति की चर्चा भी उपलब्ध है— सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। निजधाम, ममधाम, निजपद आदि शब्दों में सालोक्य अभीष्ट है। मारीच को निजपद, बाली और कुम्भकरण को निजधाम, जटायु को हरिधाम अथवा ममधाम मिला था। जटायु गृध्ररूप को छोड़कर भागवदरूप को प्राप्त हुआ और युद्धक्षेत्र में मरे राक्षस भी भागवदरूप को प्राप्त हुए थे। शबरी और रावण को सायुज्य की प्राप्ति हुई। मुक्ति के अर्थ में कैवल्य शब्द का प्रयोग भी हुआ। 'अति दुर्लभ कैवल्य परमपद'। मुक्ति के बाद जीव का पुनः जन्म-मरण नहीं होता। मुक्ति के तीन मार्ग हैं— कर्म, ज्ञान और भक्ति। यह संसार कर्म-प्रधान है। ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं हैं। क्योंकि इन दोनों के द्वारा दुख का विनाश होता है।

"भगतिहि ज्ञानहि नहीं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा॥"[२६]

ज्ञानमार्ग अत्यन्त कठिन है और भक्तिमार्ग अपेक्षाकृत सरल है। ज्ञान की तुलना दीपक से की गयी है और भक्ति की तुलना मणि से। ज्ञान के लिए भक्ति आवश्यक है। बिना ज्ञान के विश्वास दृढ़ नहीं होता, बिना विश्वास के प्रीति नहीं होती और बिना प्रीति के भक्ति नहीं होती—

"जाने बिना न होय परतीति, बिन परतीति होय न प्रीति।
प्रीति बिना न भगति दृढ़ाई सन खगेश जल के चिकनाई॥"[२७]

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जाता है कि तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम के प्रति असीम प्रेम-भावना को भक्ति कहा है। यानि परम प्रेम ही भक्ति का उत्तम पंथ है। वेदशास्त्र सम्मत भक्ति को तुलसीदास ने श्रेष्ठ भक्ति माना है जिसमें शील, शक्ति और सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय हो। तुलसीदास के मतानुसार भक्ति श्रुतिसम्मत और वैराग्ययुक्त रामभक्ति होनी चाहिये। सगुण और निर्गुण भक्ति में से उन्होंने सगुण भक्ति को महत्वपूर्ण माना है। रामचरितमानस में तुलसीदास की भक्ति दास्य भावना की है जो लोककल्याण एवं लोकमंगल की भावना से प्रेरित है। वे राम को परात्पर ब्रह्म मानते हैं जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश का सृजन किया। ये राम ही परब्रह्म, परम सत्ता और स्वयंभू हैं जिन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण किया है उनकी परम भक्ति ही श्रेष्ठ भक्ति है। यही 'रामचरितमानस' में भक्ति की मूल भावना है।

सन्दर्भ:

१ शांडिल्य भक्तिसूत्र २/४२

२. तुलसी; सम्पादक : उदयभानुसिंह, पृ० १९२
३. वही, पृ० १९२
४. वही, पृ० १९३
५. वही, पृ० १९२
६. वही, पृ० १९२
७. वही, पृ० १९३
८. वही, पृ० १९३
९. वही, पृ० १९३
१०. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, १०/६
११. वही, बालकाण्ड, ११५/१
१२. वही, सुन्दरकाण्ड, ४८
१३. तुलसी : सम्पादक उदयभानु सिंह पृ० १७९
१४. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड. ४८/७
१५. वही, बालकाण्ड, ११७/३
१६. वही, उतरकाण्ड, ८५/३
१७. वही, बालकाण्ड, ११५/१
१८. वही, उतरकाण्ड, ८५/२
१९. तुलसी : सम्पादक उदयभानु सिंह, पृ० १७९
२०. रामचरितमानस, बालकाण्ड, १४३/२-३
२१. विनयपत्रिका १५/७
२२. तुलसीदास सम्पादक, उदयभानुसिंह, पृ० १८१
२३. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ११६/३
२४. वही, उत्तर काण्ड, १८२/५
२५. वही, ११६/१
२६. वही, ११४/७
२७. वही, ८८/४

कबीर की ईश्वरानुभूति की सामाजिक भूमिका

—ज्ञानप्रकाश महापात्र

कबीर भक्त थे या समाज-सुधारक? उनमें समाज-सुधारक का रूप प्रबल था या भक्त का? इसको लेकर काफी चर्चाएँ हुई हैं। कुछ लोग उन्हें प्रमुख रूप से समाज-सुधारक मानते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें रहस्यवादी, विश्व-धर्म-प्रवर्तक, मानव-एकता का उन्नायक और निर्भीक समाज-सुधारक कहा है।[1] उनके भक्त स्वरूप को प्राथमिकता देनेवाले विद्वान भी अनेक हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि कबीरदास मुख्य रूप से भक्त थे। ....अनाविल आत्मसमर्पण ने कबीर की रचनाओं को श्रेष्ठ काव्य बना दिया।[2] वस्तुत: कबीर को भक्त मानने के पीछे सबसे बड़ा तर्क यह है कि उनके संपूर्ण साहित्य का केन्द्रबिन्दु है ईश्वरानुभूति और भक्ति।

कबीर केवल भक्त नहीं थे, हिन्दीभाषी प्रान्तों में भक्ति आन्दोलन के सूत्रधार भी माने जाते हैं। कबीर भक्ति-आन्दोलनकालीन काव्य-धारा के प्रथम कवि हैं जिन्होंने जन-मानस को गहरे रूप से प्रभावित किया। इसलिए उनका भक्त होना निर्विवाद है। पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि भक्ति उस काल की एक सामाजिक मनोवृत्ति थी। भक्ति के माध्यम से जनता के हृदय को छुआ जा सकता था। भक्त होना सामाजिक आवश्यकता थी। इसलिए बड़े स्वाभाविक रूप से कबीर ने भी भक्ति को अपनी काव्य-साधना का माध्यम बनाया। फिर भी इस बात से इनकार करना उचित नहीं होगा कि कबीरदास एक प्राचीन और पुष्ट परंपरा के उतराधिकारी थे, जो सिद्धों और नाथों द्वारा आगे बढ़ी थी। यह परंपरा कभी योग-साधना तो कभी सहज-साधना और चित्त-निर्वृत्ति आदि के चोले पहनकर वर्ण-वैषम्य, जात-पाँत, छुआछूत, वेद-शास्त्र, पुराण, पुरोहितवार, कर्मकांड आदि का विरोध करती आ रही थी। कबीरदास का युग भक्ति का था: उन्होंने भक्ति का चोला पहना। भक्ति को उन्होंने एक कारगर और प्रभावशाली साधन के रूप में अपनाया। इससे उन्हें अपने उद्देश्य में सिद्धि मिल सकती है, इस आस्था के साथ अपनाया।

कबीर दास को निर्गुण भक्ति का प्रवक्ता माना जाता है। उन्होंने परंपरागत ईश्वर से अपने ईश्वर को पृथक् कर लिया, और उसके प्रति अपनी भक्ति निवेदित की। 'राम' शब्द को लिया, परंतु दूसरे अर्थ में। "ना दशरथ घरि औतरि आवा। ना लंका कर राव सतावा"[3] कहकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि उनके राम लोक-प्रचलित अवतार दशरथ-पुत्र राम नहीं हैं। "निरगुण राम जपहुरे भाई। अविगत की गति लखि नहिं जाइ।" कहकर उन्होंने अपने राम को अव्यक्त और निराकार बताया।[4] राम के प्रचलित अर्थ— दशरथ-पुत्र— को उन्होंने इसलिए अस्वीकार किया क्योंकि कितने ही शिव, शंकर और इंद्र समय के प्रवाह में विनष्ट हो गये हैं।[5] ये उनके ईश्वर कैसे हो सकते थे? अपने ईश्वर को अलग करने के क्रम में उन्होंने उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म का सहारा तो लिया परंतु उससे भी उनका कार्य सिद्ध

नहीं हुआ। ईश्वर को निर्गुण सिद्ध करने की अपेक्षा वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि ईश्वर वह नहीं है जिसे समाज का एक बड़ा वर्ग मानता है। वे ईश्वर के रूप में उस निरपेक्ष सत्य या प्रकृति का आविष्कार कर चुके थे, जो हर प्रकार की सृष्टि के परे की वस्तु है। जब पवन नहीं था, पानी नहीं था, पृथ्वी नहीं थी, पृथ्वी की सृष्टियाँ भी नहीं थीं, उस समय जो शून्य (निरपेक्ष प्रकृति) विद्यमान था, वही ईश्वर है।[६] यहाँ आकर कबीर जैसे कुछ भ्रम में पड़ जाते हैं। प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यह ईश्वर दीनबंधु, भक्तवत्सल बन सकता है या नहीं? कबीर की यह जिज्ञासा-दृष्टि काफी सीमा तक वैज्ञानिक और तर्क-आधारित है, भले ही इसका कोई समाधान उन्हें न मिला हो। आदि में गगन (शून्य) है, मध्य में गगन है, और अंत में भी गगन है। गगन या शून्य का ही विस्तार है यह संसार। उसी से पंचभूत उत्पन्न हैं और उसीसे मनुष्य और सारी सृष्टि (चेतन-प्रकृति) भी, तो फिर इन कर्मों और संस्कारों का क्या मूल्य है? यह केवल शंका उत्पन्न करने के लिए ही तो निर्मित नहीं किया गया है?[७] धरती और आकाश जब नहीं थे तब नंद के नंदन कहाँ थे?[८] इस प्रकार के प्रश्नों से स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि क्या निर्गुण का भजन भी निरर्थक नहीं है? भगवान् एक है और वह है निरपेक्ष प्रकृति। जीव और आत्मा उसीसे उत्पन्न हैं या कह सकते हैं कि इस ईश्वर या ब्रह्म (निरपेक्ष प्रकृति) से जीव और आत्मा (शरीर और चेतना) अभिन्न हैं। कबीर को भी लगता है कि अब बैकुंठ की बात व्यर्थ है, तरने-तारने की बात से केवल भ्रम ही उत्पन्न होता है।[९] इसी बात की ओर संकेत करते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं कि सगुण निर्गुण से परे की वस्तु है कबीर का ईश्वर।[१०] ईश्वर, जीव, जगत् आदि से संबंधित ये सारे व्यावहारिक प्रश्न कबीर को लकीर का फकीर होने से बचा लेते हैं, परंतु वे इस संबंध में किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाते हैं कि यह ईश्वर (निरपेक्ष प्रकृति) भक्त की पुकार सुन सकता है या नहीं। यही कारण है कि जहाँ वे पत्थर की पूजा को मृत्यु[११] के समान मानते हैं, वहीं दूसरी ओर स्वयं कमलाकांत (निर्गुण राम) से अनंत दु:ख हरने की प्रार्थना करते हैं।[१२] राम (निर्गुण) का भरोसा इस प्रकार करते हैं कि अन्यत्र कतई जाना ही नहीं चाहते।[१३] यदि पत्थर के भरोसे रहना भ्रम है तो निरपेक्ष प्रकृति या शून्य के भरोसे रहना कहाँ तक तर्कसंगत है? यह अंतर्विरोध है और कबीर अपने समय में इससे नहीं बच सकते थे।

सगुण-निर्गुण-विवेचन के उपरांत कबीर की ईश्वर अवधारणा का दूसरा क्रम आता है जहाँ उनकी दृष्टि मनुष्य की अंतरात्मा, अंतश्चेतना या विवेक-बुद्धि पर ठहरती है। इस धरातल पर उनके विचार बहुत स्पष्ट हैं। 'ज्यूँ नैनू में पुतली त्यूँ खालिक घट माहिँ। मुरिख लोग न जाणहिं बाहर खोजन जाहिँ।'[१४] खालिक या ईश्वर यदि कहीं है तो वह मनुष्य की अंतरात्मा या विवेक के रूप में है, यह उनकी ईश्वर-संबंधी अंतिम अवधारणा है। 'आतमराम अवर नहीं दूजा'[१५] कहकर उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि विवेक-स्थित मानवता ही ईश्वर है। उससे भिन्न कोई वस्तु ईश्वर नहीं है। केवल यही नहीं मानवीय नैतिकता का कोई भी

पक्ष बच नहीं जाता है जिसका कबीर ने उल्लेख न किया हो। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के कर्तव्य-कर्म और जीवन के मार्ग कैसे होने चाहिए, उनका बड़ी स्पष्टता से कबीर ने वर्णन किया है।

कबीर की रहस्यपरक उक्तियाँ कभी-कभी उलझन में डालती हैं। कबीर ने जो निरपेक्ष प्रकृति को ईश्वर मानकर फिर उन्हें न्यायकर्ता, भक्तवत्सल आदि के पद पर बिठाया, इसी कारण उनमें रहस्यपरक अनुभूतियाँ आयीं। जो निरपेक्ष है, जिसे पाप-पुण्य कुछ स्पर्श नहीं करता है[१६] वह न्यायकर्ता[१७] कैसे हो सकता है? अपने भक्त के सिर पर वह हाथ[१८] कैसे रख सकता है? पर कबीर ने उस निरपेक्ष सत्ता पर न केवल विचारशीलता का आरोप किया है बल्कि उसके विरह में भी पीड़ित हैं और मिलन की आकांक्षा से अभिभूत हैं। उत्कट मिलनेच्छा, बेचैनी, प्रतीक्षा, तरह-तरह की बाधाओं को सहते हुए पिय मिलन की ओर बढ़ना, इस प्रकार की अनुभूतियाँ उक्तियों को रहस्यवादी बना देती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इन अनुभूतियों को मतवालों की मिथ्या अनुभूति कहकर साहित्य की वस्तु मानने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं— 'अज्ञात की जिज्ञासा का ही महत्व होता है उसकी लालसा या प्रेम का नहीं।'[१९] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इस संदर्भ में Pathetic fallacy या करुण मिथ्याभास का उल्लेख किया है, जो कि हर देश के इस प्रकार के साहित्य में देखने को मिलता है।[२०] यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कबीर की इन उक्तियों का विश्लेषण किया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये रहस्यवादी उक्तियाँ गहरी पीड़ा और वेदना की अभिव्यक्ति हैं। कबीर जिस समाज में उत्पन्न हुए थे, उसमें रहते हुए वे समाज से कोई आशा नहीं रख सकते थे। समाज के एक निर्धारित स्थान पर बैठने को विवश थे। समाज की मर्यादा की दृष्टि से उससे आगे बढ़ना अनुल्लंघनीय था। पारंपरिक ईश्वर उनके काम की चीज नहीं था। यही कारण था कि समूची योगी जाति (बनारस की) हिंदू से मुसलमान हो गयी थी। वहाँ भी उनकी स्थिति बड़ी अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में वे अपनी व्याकुलता और व्यथा को अपने ही ईश्वर के सामने व्यक्त कर सकते थे। चाहे वह निर्गुण, निराकार, या निरपेक्ष कुछ भी हो। वस्तुत: ऐसे ईश्वर से मिलने की आकांक्षा, जो कि असंभव है, गहरी पीड़ादायक, काल्पनिक और अद्भुत नहीं होगी तो क्या होगी? ईश्वर या ब्रह्म को निरपेक्ष प्रकृति मानते हुए भी कबीर को विश्वास था कि उसमें एक शक्ति है। मनुष्य की आराधना से वह मनुष्य को बल दे सकता है, शक्ति दे सकता है। अब उसे पाने की तीव्र इच्छा और व्याकुलता भी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। संपूर्ण 'बिरह कौ अंग', 'सूरा तन कौ अंग' तथा 'जीवन मृतक कौ अंग' आदि में उनकी यह व्यथा और व्याकुलता ही रहस्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं। ये अभिव्यक्तियाँ Pathetic fallacy या करुण मिथ्याभास हो सकती हैं, पर अस्वाभाविक या अप्रासंगिक नहीं हैं।

योगपरक उक्तियाँ और उलटवासियाँ भी क्या एक Defence Mechanism या सुरक्षा-कवच नहीं थीं उनके लिए? खासकर कबीर के लिए? योग-मार्ग के अतिरिक्त और कौन-

सा मार्ग खुला था उनके लिए? पढ़ना-लिखना वर्जित था। हर प्रकार का पांडित्य-प्रदर्शन, चाहे झूठ-मूठ का ही क्यों न हो, समाज का एक ही वर्ग कर सकता था। तो उनका अस्तित्व क्या था समाज में? न उनकी कोई पहचान थी, न उनकी प्रतिभा की कोई स्वीकृति थी और न ही समाज में एक सम्मानजनक जीवन जीने के वे हकदार थे। कबीरदास मनुष्य के जीवन और उसकी नियति को बड़ी गहराई से जानते थे। सारे तत्त्वज्ञान के पीछे वैषम्य की मौजुदगी से पीड़ित थे। इसलिए कह दिया— 'पांडे झूठ-मूठ की बहुत सारी बातें तो तुम कहते हो, पर न तो राम कह देने से दुनिया से मुक्ति मिल जाती है और न ही खांड कहने से मुँह मीठा हो जाता है। इसलिए तुम्हारा कहना-सुनना सब व्यर्थ है।'[२१] फिर योग परक उक्तियों को सामने रखा— 'हम तो सहस्रार का रस पीकर अजर-अमर हो गये हैं, तुम्हें क्या मिला है? तुम तो शास्त्रों का भार वैसे ही ढोये फिरते हो जैसे गदहा चंदन की लकड़ी का भार ढोता फिरता है।'[२२] फिर सामने रख दी उलटवासियाँ— "तुम बहुत भारी गूढ़ बातें करते हो, अपने शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों की भी वकालत करते हो, अब 'ठाढ़ा सिंह चरावै गाय या पहले पूत पीछे भइ माइ'[२३] का रहस्य समझाओ। इन पंक्तियों में एक तरह की आक्रामकता तो है ही, फिर भी ये उनके लिए रक्षा-कवच भी थीं, इसमें संदेह नहीं। सामाजिक यथास्थिति को नकारने का और क्या मार्ग था उनके लिए? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं— "कबीर समाज के नीचले वर्ग से संबंधित थे और सवर्ण हिंदुओं के अत्याचारों से अपरिचित नहीं थे।.... वे ऐसे परिवार में पैदा हुए थे जो गरीबी में जनमते थे, गरीबी में ही पलते थे और उसीमें मर जाया करते थे। उनके लिए ऊँच-नीच की भावना और जाति-व्यवस्था बहस की वस्तु नहीं थी, बल्कि जीवन-मरण का प्रश्न था।"[२४]

कबीर बौखलाये हैं, झुँझलाये हैं सामाजिक वैषम्य की बातें करते हुए। वर्ण-व्यवस्था, वेद-स्मृति, तीर्थ-व्रत, मुडन, जनेऊ सभी बाह्याचारों का खंडन किया है उन्होंने। इनमें असंगतियाँ और अंतर्विरोध भी कम नहीं हैं। वर्ण-व्यवस्था का विरोध करते हुए और यह कहते हुए कि यह सब समाज-व्यवस्था का दोष है, फिर कहते हैं कि पूर्व जन्म में मैं ब्राह्मण था और राम की सेवा में चूक हो जाने के कारण ईश्वर ने मुझे पकड़ कर जुलाहा बना दिया।[२५] क्या इसमें सामाजिक वैषम्य के प्रति बौखलाहट के साथ-साथ सामाजिक सम्मान की भूख प्रकट नहीं होती है? कबीर कहते हैं— 'पत्थर की पूजा व्यर्थ है, जो कभी भक्त की पुकार का जवाब नहीं देता[२६] तो क्या निर्गुण-निराकार जवाब देता है? वे पूछते हैं— 'गायत्री पढ़नेवाले स्वर्ग कहाँ चले गये?[२७] पर जब निर्गुण राम को मुक्ति दाता[२८] कहते हैं तो क्या सचमुच निर्गुण के उपासकों को मुक्ति मिल जाती है? एसे प्रश्नों के कबीर क्या जवाब दे सकते हैं? परंतु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न है, कबीर के तथा उस वर्ग के जीवन-भर की पीड़ा और छटपटाहट का, जो इस प्रकार की अटपटी बातों और बौखलाहट का कारण है। दूसरों को कहते हैं— 'तुम क्या गर्व करते हो? क्या जाने काल तुम्हें कहाँ

मारेगा, देश में या परदेश में।[२९] मनुष्य की नियति के बारे में इससे सच्ची अनुभूति और क्या हो सकती है? पर कबीर अपने बारे में कहते हैं— 'मैं न मरौं मरिहै संसारा।[३०] क्या इसका मतलब है कि कबीर में अहंकार था, दर्प था, घमंड था? नहीं। कबीर कहते हैं— 'कबीर चेरा संत का दासनि को परदास/कबीर ऐसे ह्वै रह्या ज्यूँ पावँ तलि घास/ रोड़ा ह्वै रहु बाट का तजि पाखंड अभिमान/ऐसा जे जन ह्वै रहै ताहि मिलै भगवान।[३१] जगत से कोई आशा नहीं थी फिर भी एक अखंड आत्मविश्वास था उनमें— 'जीवन थैं मरिबो भलौ, जो मरि जानै कोइ/मरनै पहली जे मरें, तो कलि अजरामर होइ।[३२] आत्मविश्वास के साथ-साथ एक अद्भुत विनम्रता कबीर की विशेषता थी। पूरे 'जीवन-मृतक कौ अंग' पढ़ने के बाद पता चलता है कि कितनी पीड़ा और सामाजिक उत्पीड़न सहने के बाद कोई आदमी पत्थर की तरह जीवन-मृतक बन जाना चाहता है; संत के पाँच तले की घास बन जाना चाहता है, ताकि मान का, अपमान का, दुर्व्यवहार का उस पर कोई असर न हो। इस बात की चाहे जितनी साधनापरक और दार्शनिक व्याख्या क्यों न हो पर देखनेवाले को इन पंक्तियों में छिपी कबीर की पीड़ा और व्याकुलता अवश्य दिखाई देगी।

अब मूल प्रश्न सामने आता है कि कबीर क्या थे भक्त या समाज-सुधारक? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर को मुख्य रूप से भक्त मानते हुए भी यह कहते हैं कि कबीर अपने युग के सबसे बड़े क्रांतिदर्शी थे।[३३] वस्तुत: कबीर सारे संसार के प्रति सद्भावना रखनेवाले और सामाजिक वैषम्य के विरुद्ध लड़नेवाले एक महान् क्रांतिकारी थे। भक्ति और आध्यात्मिकता के मार्ग पर चलकर उन्हें यह लड़ाई लड़नी पड़ी। डॉ० रामविलास शर्मा तुलसी के संदर्भ में कहते हैं कि भक्तिकाल का कवि या संत संगठन बनाकर मानवाधिकार आंदोलन नहीं चला सकता था।[३४] वही बात कबीर पर भी लागू है। अत: कबीर भक्त थे यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि भक्ति उनकी क्रांति का एक महत्वपूर्ण अंग थी। उन्हें सही अर्थ में समाज-सुधारक कहना भी कहाँ तक उचित होगा? समाज-सुधारक प्राय: समन्वयवादी हुआ करते हैं। समन्वयवादी भेद को स्वीकारते हैं और फिर सहिष्णुता उत्पन्न करने के द्वारा मेल कराना चाहते हैं। समन्वयवादी यथास्थिति को बदलने का प्रयत्न नहीं करते। वैसे समन्वय बुरी बात नहीं है। जब तक भेद कायम है, यह समन्वय ही काम देता है। पर कबीर वैसे न थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं— ''जो लोग कबीरदास को हिंदू-मुस्लिम धर्म का सर्व-धर्म-समन्वयकारी सुधारक मानते हैं, वे क्या चाहते हैं, ठीक समझ में नहीं आता।....... वे दोनों को शिरसा स्वीकार कर समन्वय करनेवाले नहीं थे। समस्त बाह्याचारों के जंजालों और संस्कारों को विध्वंस करनेवाले क्रांतिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था।''[३५] वे तो यह कहते थे कि बुत पूजी हिंदू मुए, तुरक मुए सिरु नाइ।[३६] फिर दोनों संप्रदाय के लोगों से पूछते थे— तुरक मसीति रेहुरै हिंदू दहुँण राम खुदाई/जहाँ मसीति देहुरा नाहीं तहाँ काकी ठकुराई।[३७] वस्तुत: वे भेद को ही अस्वीकार करते थे। मनुष्य मात्र में भेद का कारण वे सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। उन्होंने घट-

घट में साहिब को देखा था[३८] इसलिए उनकी दृष्टि बिल्कुल अभेद थी। जोड़ना नहीं बल्कि एकता सिद्ध करना कबीर का सामाजिक उद्देश्य था। इसलिए सामाजिक कुप्रथाओं और बाह्याचारों पर उनका आक्रमण था, वह चाहे जिस भी सम्प्रदाय के हों। भक्ति, ईश्वरानुभूति, चाहे कुछ भी उनकी काव्य-साधना का माध्यम या मार्ग रहा हो मानव-मात्र की एकता की उद्घोषणा करना उनका उद्देश्य था। अत· भक्तिकाल में मानवीय अधिकार के लिए लड़नेवाले अद्वितीय योद्धा थे कबीर।

संदर्भ-सूची

१ डा० ठाकुर जयदेव सिंह, डा० वासुदेव सिंह : कबीर वाणी पियूष, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ० २
२ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल, १९८८, पृ० ८८
३ माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, १९८५, बारहपदी रमैणी, पृ० ३९७
४. वही, रागगौड़ी पद-४९
५. वही, पद-३५
६ वही, लहुड़ी अष्टपदी रमैणी, पृ० २९३-९४
७ वही, राग गौड़ी, पद-४४
८. वही, पद-४८
९ वही, पद-५२
१०. परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख, १९८५, पृ० ८७
११. कबीर ग्रंथावली (मा० प्र० गु), भ्रम विधौसण कौ अंग, दो०-१
१२ वही, राग गौड़ी, पद-१०९
१३. वही, पद-११०
१४ वही, कस्तुरिया मृग कौ अंग
१५ वही, राग गौड़ी, पद-१३४
१६. वही, परचा कौ अंग, दोहा-४
१७. वही, साँच कौ अंग, दोहा ८-९
१८ वही, बेसास कौ अग, दोहा-१२
१९. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : चिंतामणि (भाग-२), काव्य में रहस्यवाद
२० परशुराम चतुर्वेदी · कबीर साहित्य की परख, पृ० १२४
२१ माताप्रसाद गुप्त . कबीर ग्रंथावली, पद संख्या-४० ·
२२. वही, पद-४५
२३. वही, पद-११
२४. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, राजकमल, १९८५, पृ० १४४
२५ माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, राग आसावरी, पद-४४
२६ वही, भ्रम विधौंषण कौ अग,
२७ वही, लहुड़ी अष्टपदी रमैणी, पृ० ३९४
२८ वही, साध कौ अंग, दोहा ४

२९. वही, काल कौ अंग, दोहा १९
३०. वही, राग गौड़ी, पद ४३
३१. वही, जीवन मृतक कौ अंग, दोहा १३-१४
३२. वही, दोहा-८
३३. हजारीप्रसादी द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ० ८५
३४. डा० रामविलास शर्मा : परंपरा और मूल्यांकन (तुलसी साहित्य में सामंत विरोधी मूल्य)
३५. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १६०
३६. श्यामसुन्दर दास : कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट, पद-१५४ / माघ कौ अंग, दोहा-७
३७. वही, पद ५८
३८. वही, पिय पिछाँबन कौ अंग, दोहा— १

इक्कीसवीं सदी में मानवीय अधिकार और नारी-प्रगति

—प्रेमकली शर्मा

संक्षिप्तिका

प्रस्तावना— जीव सृष्टि रूपी संरचना जिस आदि शक्ति महामाया द्वारा सम्पन्न होती है, उसे विधाता भी कहते हैं और माता भी। मातृशक्ति ने यदि प्राणियों पर अनुकम्पा न बरसाई होती, तो उनका अस्तित्व ही प्रकाश में न आता। भ्रूण की आरम्भिक स्थिति एक सूक्ष्म बिन्दु मात्र होती है। माता की चेतना और काया उसमें प्रवेश करके परिपक्व बनने की स्थिति तक पहुँचाती है। प्रसव वेदना सहकर वही उसके बन्धन खोलती है और विश्व उद्यान में प्रवेश कर सकने की स्थिति उत्पन्न करती है। असमर्थ अविकसित स्थिति में माता ही एक अवलम्बन होती है, जो स्तनपान कराती है और पग-पग पर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यदि नारी के रूप में माता समय-समय पर विचित्र-विचित्र प्रकार के अनुग्रह न बरसाती तो मनुष्य ही नहीं किसी भी जीवधारी की सत्ता इस विश्व ब्रह्माण्ड में कहीं भी दृष्टिगोचर न होती। इसलिए उसका जीवनदायिनी ब्रह्म-चेतना के रूप में अभिनन्दन होना चीहिए।

आज भारत ही नहीं अपितु पूरे विश्व में मानवाधिकारों का हनन और जो नारी-उत्पीड़न हो रहा है उससे कोई भी अपरिचित नहीं है। यदि इन मानवीय अधिकारों के हनन और नारी-उत्पीड़न के मूल में समस्या का उद्‌गम खोजा जाए तो वह यह है कि वैदिक काल से लेकर अब तक नारी के स्वरूप बदलते रहे हैं। वैदिक युग में वह पुरुषों के समान ही नहीं बल्कि उससे अधिक सम्माननीय मानी जाती थी। उस युग से यदि आज की स्थिति की तुलना की जाय तो आकाश-पाताल का अन्तर दृष्टिगत होता है। बदलते समय के साथ-साथ नारी को जो लघुतर रूप मिलता गया और मानवीय अधिकारों का जो निरन्तर हनन होता गया,—उसके मौलिक कारणों को खोजना और तदनुरूप नारी-प्रगति एवं मानवीय अधिकारों की प्रतिष्ठा के लिए कुछ समाधान खोजना ही इस शोधालेख का उद्देश्य है।

उद्देश्य—संचार माध्यमों और मीडिया ने ज्ञान के विस्तार में जहाँ उल्लेखनीय कार्य किया है वहीं मानवता को पतन की ओर ले जाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। देर रात दूरदर्शन पर दिखाई जाने वाली अश्लील फिल्में पूरे राष्ट्र के चरित्र को बिगाड़ने में निरन्तर संलग्न हैं और जो कुछ शिक्षाप्रद दिखाया जाता है उसकी तुलना में मानवीय चरित्र का ह्रास करने वाली सामग्री बहुत अधिक होती है और यदि हम उसे कम मान भी लें तब भी एक भगोने दूध को विकृत करने में एक बूँद विष पर्याप्त होता है। इसलिए मीडिया ने नारी के भोग्या स्वरुप को उभारने में जो कार्य किया है वह केवल नारी की गरिमा को ही नहीं घटाता अपितु समाज को भी पतनोन्मुख बनाता है। फिर मानवीय प्रकृति ऐसी होती है कि वह बुराइयों को जल्दी ग्रहण करती है और अच्छाइयों को ग्रहण करने के लिए

इसलिए अग्रसर नहीं हो पाती क्योंकि उसके लिए उसे अधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं और तप, तितिक्षा तथा संयम का भी निर्वहन करना पड़ता है। हमारे शोधालेख का उद्देश्य यह है कि कुछ ऐसे उपाय खोजे जाएँ जिससे राष्ट्र तथा विश्व मानवता प्रेय के स्थान पर श्रेय का अनुगमन करने में गौरव का अनुभव करे।

महत्व— नारी-उत्पीड़न को समाप्त करने के लिए सरकार ने दहेज-विरोधी कानून, दाया अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार और बाल विवाह पर प्रतिबन्ध—जैसे अनेक कानून बनाए हैं और महिला आरक्षण—जैसे कानून बनाने की प्रक्रिया में भी प्रयत्न हो रहे हैं; किन्तु केवल कानून किसी प्रकार का सुधार कर पाने में समर्थ नहीं होता इसके लिए भावनात्मक कदम उठाने पड़ते हैं। जब तक इस स्तर से कार्य नहीं होगा तब तक नारी को पूर्ण गरिमा-पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि सबसे पहले लोकरंजन की गतिविधियों में लोकमंगल का समावेश हो। सभी प्रसार माध्यमों में प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया जाय जिसमें नारी-उत्पीड़न और दहेज-जैसी कुप्रथाओं के परिणामों का चित्रांकन किया जाता है; क्योंकि बुराई जल्दी ग्रहण की जाती है। इसलिए ऐसे दृश्य दर्शकों पर कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं छोड़ पाते अपितु जनसाधारण उस बुराई को ही ग्रहण कर लेता है जो कि प्रसार माध्यमों द्वारा दिखाई जा रही है। इस स्थिति को बदलना होगा। आजकल बिना दहेज लिए जो विवाह किए जा रहे हैं उनके सुखमय स्वरुप को दर्शाना होगा। यह सकारात्मक दृष्टि अपनाते ही भावना के स्तर पर सुधार प्रारम्भ हो जाएगा।

मानवीय अधिकारों के संरक्षण और नारी की प्रगति में सकारात्मक दृष्टि कैसे उत्पन्न की जाय? यह समस्या के निदान की एक क्रान्तिकारी पहल होगी।

विवेचन—भारतीय संस्कृति का प्रधान केन्द्रीय तत्व है— भाव-संवेदना। इस गुण की प्रचुरता जिसमें है वह नारी-शक्ति देव-संस्कृति के विकासक्रम में एक धुरी की भूमिका निभाती आयी है। स्त्री जगत की एक पवित्र स्वर्गीय ज्योति है। वह पुरुष-शक्ति के लिए जीवन-सुधा है— त्याग उसका स्वभाव, प्रदान उसका धर्म, सहनशीलता उसका व्रत और प्रेम उसका जीवन है।

"देवत्व के प्रतीकों में प्रथम स्थान नारी का और दूसरा नर का है। लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश, सीता-राम, राधे-श्याम—जैसे देवयुग्मों में प्रथम स्थान नारी का और पश्चात् नर का उल्लेख होता है।[१]

मनुस्मृति में कहा गया है कि "पुत्री को पुत्र के समान समझना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार आत्मा पुत्र रूप में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार वह पुत्री के रूप में भी जन्म लेती है।"[२]

जिस प्रकार नारी हमारा पालन करती है, उसी प्रकार उसका पालन करना भी हमारा कर्तव्य है। अथर्ववेद में उसे "सत्याचरण का अर्थात् धर्म का प्रतीक कहा गया है; कोई भी धार्मिक कार्य उसके बिना अधूरा माना जाता रहा है।"[३]

प्राचीन भारत में तो नारी देवी समझी जाती थी। उसका सम्मान करना मानव जाति का धर्म था। वह पुरुष की सहचरी, सहधर्मिणी, अर्द्धांगिनी थी। उसे पुरुष से किसी प्रकार कम नहीं समझा जाता था। समाज में दोनों का दर्जा समान था और अधिकार दोनों के बराबर थे।

जर्मनी के विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक मैक्समूलर ने "द हिस्ट्री ऑफ ऐन्सिएन्ट संस्कृत लिट्रेचर" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "भारत में वैदिक काल में नारी को परिवार और समाज में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष के समान ही प्रगति के अवसर उपलब्ध थे। स्त्री को पराधीन बनाने वाली मनोवृत्ति का आरम्भ तो मध्य एशिया की कुशाण जाति से होता है, जिसने पहली सदी में उत्तरी भारत, अफगानिस्तान, और मध्य एशिया पर शासन किया।"[४] इस जाति के ऊपर विकृत यूनानी सभ्यता का पूर्णतः प्रभाव था। तभी से अज्ञानता का ऐसा भयंकर तूफान आया कि पुरुषों की चिन्तन-धारा को ही बदल दिया। अब वह घर की चहार दीवारी के अन्दर ही अपना जीवन व्यतीत कर सकती थी, वह केवल भोग-विलास की प्रतिमा-मात्र रह गई। वह पुरुष के लिए मनोरंजन का साधन मात्र रह गई। मध्य युग में नारी को हेय दृष्टि से देखा गया, परन्तु इस समय की नारी दुर्बल नहीं थी। दुर्गावती, अहिल्याबाई आदि ने भारतीय संस्कृति को जीवित रखा। इस युग में हम नारी-जाति का सत्कार करना भूल गये जो हमारी अवनति का कारण बना। मानवोचित अधिकारों से वंचित करके उसे पिंजड़े में बंद पंछी की तरह घर में कैद कर दिया गया। कन्या का जन्म दुर्भाग्य का सूचक और पुत्र का जन्म रत्न-वर्षा की तरह सौभाग्य सूचक माना जाने लगा। नारी ने गृहलक्ष्मी होने का जो भार अपने ऊपर लिया था, उसके कारण घर से बाहर के कार्यो में उसका बहिष्कार होने लगा और धीरे-धीरे वह अबला और आश्रिता बन गई। जिस धर्म को नारी ने प्रेमवश धारण किया था वही आज उसके लिए अभिशाप बन गया। पुरुषों को नारी का जो प्रेम प्राप्त था, उसको पुरुषों ने अपना अधिकार समझा— केवल जीवन में ही नहीं, मरणोपरान्त भी। आज भी यदि हम चाहते हैं कि देश का कल्याण हो तो हमें नारी-जाति का फिर से आदर करना सीखना होगा और उसकी प्रगति में बाधक न बनकर सहयोगी साधक बनना होगा।

अथर्ववेद में कहा गया है कि "पति-पत्नि एक-दूसरे को प्यार भरी दृष्टि से देखें, मुख से सदैव मीठे वचन बोलें तथा एक-दूसरे के हृदय में रहें, हम दो शरीर और एक मन हों।[५]

नारी पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाना, उसे सेवा, परमार्थ के मार्ग के लिए अयोग्य कहना मानसकार की दृष्टि में सर्वथा अनुचित है। ऐसी स्थिति को अवांछनीय बताते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि "भक्ति, परमार्थ मार्ग में चलने का नर और नारी दोनों को समान अधिकार है। श्रेष्ठ समाज के प्रतीक राम-राज्य में स्त्री, पुरुष सभी श्रेष्ठतम गति के अधिकारी माने जाते हैं।"

"राम भगति रत नर अरु नारी,
सकल परम गति के अधिकारी।"[६]

शिक्षा का अभाव और अन्धविश्वास का बाहुल्य भी नारी-जाति की उन्नति में बाधक हैं। नारी को शिक्षित इसलिए होना चाहिए कि वह मातृत्व का भार भली-भाँति सहन कर सके, पीड़ित और घायलों की सेवा कर सके, अपनी शिक्षा के द्वारा अपनी संतान को शिक्षित बनाकर समस्त समाज को सभ्य, सुसंस्कृत और दृढ़ भावी नागरिक बना सके।

"समुद्र वृष्टि करता है तब नदियाँ जल प्राप्त करती हैं। अर्थात् जिस प्रकार नदियों का नियंत्रण समुद्र करता है, उसी प्रकार है वधू। तू भी अपने घर की मालकिन होकर संपूर्ण परिवार को सुखी कर।[७]

विकसित देशों में तो महिलाएँ प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के समतुल्य हैं। हमारे देश में ही नारी को मानवोचित अधिकारों से वंचित किया गया है। पग-पग पर प्रतिबन्ध, क्षण-क्षण में तिरस्कार उसके भाग्य में है। जिसकी अपनी कोई इच्छा, महत्वाकांक्षा, मर्जी, पसन्दगी न हो, जिसे जन्म से मरण तक बिना उचित-अनुचित का अन्तर किये केवल आज्ञापालन ही करना है। उसके लिए अपना भविष्य—निर्माण करने की बात सोचना ही निरर्थक है। इसलिए यह आवश्यक है कि नारी में उदार व्यवहार द्वारा आत्मविश्वास जगाया जाय। उसे आश्वस्त एवं विश्वस्त किया जाय कि वह पतिकी दासी नहीं बल्कि संगिनी है। परिवार एवं समाज के लिए उसका बहुत कुछ मूल्य एवं महत्व है। तभी उसमें आत्मविश्वास आयेगा और उसका मन हीन-भावना से मुक्त होगा; नहीं तो सुविधा सम्पन्नता से युक्त अवसर पाकर भी वह किसी योग्य न बन पायेगी। शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता ग्रसित स्थिति से नारी को उबारा जाना आवश्यक है, अन्यथा वह अपने परिवार के लिए, समाज के लिए एवं राष्ट्र के लिए कुछ भी महत्वपूर्ण योगदान दे सकना तो दूर, पिछड़ेपन के कारण भारभूत ही बनी रहेगी।

"राजनैतिक दृष्टि से पराधीन रहने वाला देश आर्थिक दृष्टि से ही शोषित नहीं होता वरन् सांस्कृतिक, मानसिक, चारित्रिक और बौद्धिक दृष्टि से भी पंगु हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से पराधीन बनाई गई नारी भी अपनी प्रखरता और उपयोगिता खो बैठी है। तथ्य को गहराई से समझा जाना चाहिए और विषवृक्ष के पत्ते तोड़ने की अपेक्षा उसकी जड़ काटी जानी चाहिए। नारी को हर क्षेत्र में विकास का अवसर मिलना चाहिए और उसके पिछड़ेपन को मिटाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए।"[८]

जिन देशों में नारी को प्रगति के अवसर नहीं मिल रहे हैं और वह कड़े प्रतिबन्धों के बीच बाधित जीवन जी रही है वहाँ पुरुषों की परिस्थिति कहने के लिए अच्छी है। अमेरिका का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि प्रगतिशीलता ही सफलताओं की जननी है। प्रकृति उन्हीं को आगे बढ़ाती है जिनमें उत्साह, साहस और पुरुषार्थ का उभार उठता है और महत्वाकांक्षा बढी- चढी रहती है। अमेरिकी नारी ने अपने को इस कसौटी पर वहाँ

के पुरुषों की तुलना में अधिक अग्रगामी सिद्ध किया है।

यूगोस्लेविया की महिलाएँ उस देश की पूरी कृषि-व्यवस्थ: सँभालती हैं। जापान की महिलाएँ उद्योग-धन्धों के विकास में पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करती हैं। समुन्नत देशों में नारी को जहाँ भी मानवोचित अधिकार मिले हैं, वहीं वह पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रही है। दोनों ही वर्ग समर्थ हैं। शिक्षा और योग्यता में भी कोई किसी से पीछे नहीं, किन्तु भारत में नारी आज भी नितान्त पिछड़ी हुई स्थिति में है।

अन्धकार युग से उभरकर अनेक सत्प्रवृत्तियों की तरह नारी अब नये सिरे से अपने वर्चस्व का परिचय देने के लिए ऊपर आ रही है। इसे कल्पना या संभावना नहीं, वरन् सुनिश्चित भवितव्यता ही समझना चाहिए।

अमेरिका, जापान और रुस की महिलाएँ तो राजनीति से लेकर वैज्ञानिक और आर्थिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी कार्य कर रही हैं। माराटेसरी की शिक्षा-क्रान्ति, फ्लोरेंस नाइटिंगल का रेडक्रास-आन्दोलन, मैडम क्यूरी के वैज्ञानिक अनुसंधान, मदर टेरेसा की दरिद्रों के प्रति करुणा, मेरी स्टोप का परिवार नियोजन कार्यक्रम ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिनका चिरकाल तक भावभरा सश्रद्ध स्मरण होता रहेगा।

राजनीति के क्षेत्र में मार्गरेट थैचर, भण्डार नायके आदि का नाम हर किसी जबान पर है। महिला टाकोका डोई ने जनमानस पर अपनी ऐसी छाप छोड़ी कि पहले टोकियो असेम्बली के चुनाव में तथा उसके बाद पूरे जापान के चुनावों में महिलाप्रधान प्रजातांत्रिक पार्टी को बहुमत दिलाकर ही छोड़ा; जिन्हें देखते हुए उन पर किसी भी प्रकार पिछड़ेपन का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

भारतीय महिलाओं को देखते हुए नारी-जागरण भारत की सबसे प्रथम और सबसे प्रमुख आवश्यकता है। इसकी पूर्ति के लिए विशालकाय और दूरगामी कार्यक्रमों की आवश्यकता है। "शान्तिकुंज, हरिद्वार में तो महिला-जागृति अभियान हेतु महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से जगह-जगह प्रेस लगाये गये हैं और उनमें बाजारों की छपाई तथा स्थानीय समस्याओं पर निजी प्रकाशन किया जा रहा है। सर्वत्र कुटीर उद्योगों की स्थापना करके आर्थिक स्वावलम्बन की दिशा में भी महत्वपूर्ण कदम उठाये जा रहे हैं।"[९] इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा भी समग्र राष्ट्र को प्रभावित करने वाले रचनात्मक कदम उठाये जा रहे हैं; जैसे—सरकारी स्कूलों में कन्या-शिक्षा की आवश्यकता पर बलप्रदान।

"पाश्चात्य देशों में तो नारी-मुक्ति आन्दोलन बहुत पुराना है। सन् १९१३ में वाशिंगटन की सड़कों पर राष्ट्रपति वुडरो विलसन से महिलाओं ने नारी स्वतंत्रता की माँग की थी। सन् १९३० ई० में उन्हें मतदान के अधिकार मिले तथा उच्च शिक्षा के लिए दरवाजा खुला।"[१०]

इक्कीसवीं सदी महापरिवर्तनों की बेला है। ऋषि परम्पराएँ, देव परम्पराएँ और महामानवों द्वारा अपनाए दृष्टिकोण शीघ्र ही क्रियान्वित होने जा रहे हैं। इस ऊषाकाल में, बहुत कुछ बदलने जा रहा है, साथ ही नारी का खोया वर्चस्व भी उसे मिलने जा रहा है। जितना

गौरवमय इतिहास उसका रहा है उसे वह देव-संस्कृति के निर्धारणों के आधार पर पुन: पाने जा रही है।

उपसंहार— इक्कीसवीं सदी को नारीप्रधान कहा गया है साथ ही इसे ''मदर्स संचुरी के नाम से भी घोषित किया गया है। जैसे-जैसे बीसवीं सदी का समापन निकट आया है, वैसे-वैसे ही समानता संबंधी आन्दोलन भी व्यापक व विश्व-स्तरीय बनते गये हैं। अब इसके लिए आवश्यक है, नारी के सोच-विचार तथा मानसिकता में उपयोगी बदलाव, तभी नारी संबंधी प्रतिगामी मान्यताएँ उलट कर रहेंगी और कामिनी एवं भोग्या की जगह आने वाले समय में वह सिर्फ पुरुषों-जैसा समान अधिकार ही प्राप्त नहीं करेगी वरन् देवी-जैसा सम्मान व श्रद्धायुक्त पद प्राप्त कर स्वयं को वरिष्ठ भी सिद्ध करेगी।

सन्दर्भ :

ग्रन्थ

१. अथर्ववेद संहिता, टीकाकार, पं० श्री राम शर्मा आचार्य
२. महिला जागृति अभियान, पं० श्री राम शर्मा आचार्य
३. आधी जनशक्ति अपंग न रहे, पं० श्री राम शर्मा आचार्य
४. मनुस्मृति
५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, पं० श्री राम शर्मा आचार्य
६. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता, पं० श्री राम शर्मा आचार्य
७. धर्म चक्र प्रवर्तन एवं लोक मानस का शिक्षण, पं० श्री राम शर्मा आचार्य
८. ऋग्वेद संहिता, टीकाकार, पं० श्री राम शर्मा आचार्य

पत्र-पत्रिकाएँ

९. युग निर्माण योजना (हिन्दी मासिक पत्रिका) जुलाई-१९९३
१०. अखण्ड ज्योति (हिन्दी मासिक पत्रिका) अगस्त-१९९९

तुलसी के राम

—हरिशंकर मिश्र

तुलसी लोकचित्त के कवि हैं। लोक के प्रति उनके मन में गहरी संपृक्ति है। वेद से लोक को वे कम महत्त्व नहीं देते। वस्तुत: वे जगत-जीवन-धारा को लोक और वेद के कूलों से मर्यादित होने पर अभ्युदय और नि:श्रेयस की सिद्धि मानते हैं। लोक तुलसी के लिए प्राथमिक है। अत: उनकी सारी चेष्टाएँ तथा संकल्पनाएँ लोकमंगल के लिए हैं। लोक भी तुलसी की दृष्टि में समग्रता में है, कहीं एकांगिकता या संकीर्णता नहीं है। उनके लोक में चराचर की व्याप्ति है। तुलसी की पार्वती की पृच्छा से यह बात स्पष्ट है :

"कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन यह सैलकुमारी।
कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी।"[१]

अत: सकल लोक या चराचर जगत् का मंगल तुलसी का मूल लक्ष्य है जिसकी सिद्धि के लिए उन्होंने राम को अपनी संकल्पना के अनुसार मूर्तित किया है। अपनी क्रान्त दृष्टि से तुलसी ने लक्षित किया 'जयमंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के।' पुरुषार्थ चतुष्टय का विधान शास्त्रीय है, जिसे लोक में रहकर प्राप्त करना मानव का परम लक्ष्य माना गया है, और जिसकी प्राप्ति राम गुन ग्राम से सहज सम्भव है। तुलसी के पूर्व राम के चरित्र में शास्त्र और लोक की इतनी व्याप्ति कदाचित दृष्टिगत होती है। निर्गुण संतों के राम निराकर होने के कारण लोक की पहुँच से प्राय: दूर ही रहते हैं। ध्यान-धारणा-समाधि के द्वारा ही निर्गुण राम अनुभव-प्रत्यक्ष होते हैं और लोक सामान्य इस स्थिति तक पहुँच नहीं पाता। लोक को तो अपने प्रत्येक सुख-दु:ख में सहयोगिता करते हुए राम की आवश्यकता होती है, जो उसका प्रतिक्षण मंगल-विधान और योग-क्षेम कर सके। तुलसी के राम में यह सब कुछ कर सकने का सामर्थ्य है। तुलसी अपने राम को इसीलिए अवतरित भी करते हैं— 'रामजनम जगमंगल हेतू'। तुलसी के राम वाल्मीकि, भवभूति तथा निर्गुण सन्तों के राम से विशिष्ट दिखलाई पड़ते हैं। लोक और वेद का जितना प्रगाढ़ समन्वय तुलसी के राम में है, उतना अन्यत्र नहीं। निर्गुण सन्तों की तो अवधारणा ही है कि राम सगुण-साकार नहीं हो सकते; किन्तु तुलसी अपने राम को तत्त्वत: निर्गुण और स्वरूपत: सगुण मानते हैं। अत: तुलसी की राम विषयक अवधारणा शास्त्र एवं लोक-दोनों दृष्टियों से विवेच्य है।

तुलसी के राम : ब्रह्म रूप में : तुलसी के राम परब्रह्म, आदि पुरुष, सर्वकारणरूप तथा सर्वाश्रय हैं। उपनिषदों में ब्रह्म के जो द्विविध लक्षण निरूपित किए गए हैं, तुलसी के राम उन लक्षणों के अनुसार पूर्ण ब्रह्म हैं। स्वरूप लक्षण की दृष्टि से ब्रह्म सच्चिदानन्द है: 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश करना सम्भव नहीं है क्योंकि वह निर्विशेष निर्विकल्प निरुपाधि और निरंजन है। इसीलिए श्रुति ने उसे 'नेति नेति' कहकर निरूपित किया है : 'तमक्षरं गार्गि ब्राह्मण अभिवदन्ति अस्थूलम् अनणुम् अहस्वम्

अदीर्घम् अलोहितम् अस्नेहम् अच्छायम् अतम: अवायु: अनाकाशम् असंगम् आतम् अगन्धम् अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाक् अमन: अतेजस्कम् अप्रणाम् अमुखम् अमात्रम् अनन्तरम् अवाह्यम्'।[२] तुलसी के राम भी सच्चिदानन्द स्वरूप हैं: 'राम सच्चिदानन्द स्वरूपा.....। सोइ सच्चिदानन्दघन रामा'।[३] इसी प्रकार राम ब्रह्मचिन्मय अविनासी हैं।[४]

तुलसी के राम एक, अद्वितीय, तुरीय व्यापक, पुराण पुरुष, विश्वात्मा, कूटस्थ चराचरनायक, भुवननिकायपति, द्रष्टा आदि सब कुछ हैं। वे माया, गुण तथा इंद्रियों से परे हैं। तटस्थ लक्षण की दृष्टि से ब्रह्म प्रसव, पालन एवं प्रलय का विधान करने वाला होता है। श्रुति का कथन है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।'[५] तुलसी के राम भी तटस्थ लक्षणों से युक्त हैं। वे सृष्टि के कर्ता, भर्ता एवं संहर्त्ता हैं। स्रष्टा एवं सृष्टिरूप हैं तथा विश्व के परम कारण हैं। सृष्टि के आदि, मध्य तथा अन्त में राम की ही सत्ता तथा स्वामित्व है— 'आदि मध्य अन्त राम साहि तुम्हारी'।[६] इस प्रकार स्वरूप एवं तटस्थ-दोनों लक्षणों से तुलसी के राम पूर्ण ब्रह्म हैं।

तुलसी के राम : निर्विशेष एवं सविशेष : श्रुतियों मे ब्रह्म के दो भेद बताए गए हैं: एक सर्वोपाधिविवर्जित निर्विशेषरूप तथा दूसरा नामरूप भेदोपाधि विशिष्ट सविशेष रूप।[६] ईशोपनिषद् का मंत्र है 'स पर्यगात शुक्रय अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धमपाविद्धम्, कविर्मनीषीपरिभू स्वयम्भू यथा तथ्यतोऽर्थान व्यपघात शाश्वतीभ्य: समाभ्य:' (यंत्र, ५)। श्रुति-प्रतिपादन के अनुरूप तुलसी के राम सगुण-निर्गुण दोनों हैं।[७] तुलसी इन दोनों विशेषणों का युगपत् प्रयोग करते हैं: 'चिदानंद निरगुन गुन रासी'। निर्गुण सगुण विषम सम रूपं।[८] निर्गुण ब्रह्म माया शक्ति से सगुण रूप में परिवर्तित हो जाता है अत: श्रुति उसे मायापति महेश्वर रूप में अभिहित करती है। 'मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतरोप०, ४/१०)। इस प्रकार सगुण ब्रह्म ही महेश्वर हैं। तुलसी भी अपने राम के लिए यह स्वीकार करते है: 'मायामानुष रूपिणौ सद्धर्मो हि तौ'।[९]

इस प्रकार तुलसी के राम निर्विशेष-सविशेष-निर्गुण-सगुण दोनों हैं। तुलसी की मान्यता है कि निराकार अज ब्रह्म भक्तों के प्रेमवश सगुण रूप में प्रकट होता है—

'अगुन अमान अलेप एक रस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस।' मानस, २/२१/६
'तात राम कहँ नरजनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।' मानस, ५/२६/१२

तुलसी ने अपने राम को अज, अनाम, अरूप, अखण्ड, अनन्त , अव्यक्त, अगुन, अकल आद्यन्तरहित, अतर्क्य, अप्रमेय, अकथ, अपार, निर्गुण, निस्सीम, निराकार, निरंजन, निरामय, निरुपाधि, आदि कहकर उनके निर्विशेष रूप का प्रतिपादन किया है। 'विनयपत्रिका' का एक पद यहाँ द्रष्टव्य है:

'नित्य निर्मोह निर्गुण, निरंजन निजानंद निर्वानदाता।
निर्भरानंद निस्कंप निस्मीम निर्युक्त निरुपाधि निर्मम विधाता।
अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार आनंद सिंधो।
अचल अनिकेत अविरल अनामय अनारंभ अंभोदनादहन बंधो॥"[१०]

मूलतः तुलसीदास निर्गुण और सगुण में तात्त्विक अभेद मानते हुए भी ब्रह्म के सगुण रूप का ही प्रतिपादन करते हैं। उनके राम का रूप त्रिभुवनमोहन है। राम के अतिशय सौंदर्य से अभिभूत होकर खरदूषण जैसे प्रकृत्या हिंस्र जनों की चेतना में अभूतपूर्व परिवर्तन देखा जाता है:

'हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं अस सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बधलायक नहिं पुरुष अनूपा॥' मानस ३/१९

तुलसी के राम स्वरूप से तो अतिशय सुन्दर हैं ही, स्वभाव से भी अनुप सुन्दर हैं। वे भक्तवत्सल, प्रणतवत्सल, प्रपन्नपाल, शरणद तथा आर्तबन्धु हैं। उनका मधुर स्वभाव सर्वदा सर्वानुकूल है। राम का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए गुण, स्वभाव सम्पत्ति कुलीनता वाक्चातुर्य बुद्धि आदि की अपेक्षा नहीं है। वनचरों से भी उन्होंने मित्रता की। तभी तो तुलसी कहते हैं:

'मीत पुनीत कियो कपि भालु को पाल्यो ज्यों काहू न बालतनूजो।
कूर कुजाति कपूत अघी सबकी सुधरै जो करै नर पूजो॥' कवितावली ७/५

तुलसी के राम जगत् की समस्त चेतना के मूलस्रोत, सच्चिदानंद स्वरूप, परब्रह्म, मायाधीश और 'ग्यानगुनधाम' हैं—

'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ग्यानगुन धामू॥' मानस १/११७/७

इस प्रकार तुलसी अपने राम को अनेकशः गुणसागर, गुणनिधान, गुणग्राम, गुणराशि, गुणसिंधु आदि कहते हैं तथा उन्हें करुणानिधान, करुणायतन, करुणासागर, करुणानिधि, करुणासिन्धु कारणरहित कृपालु मानते हैं। तुलसी ने सिद्धान्ततः एवं व्यवहारतः राम के इन गुणों को सर्वत्र वर्णन किया है। तुलसी के राम अपनी उदारता के लिए विख्यात हैं:

'ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं।'
विनयपत्रिका, १६२

राम तो अरि का भी अनभल नहीं करते; वे सदा सभी का अभ्युदय एवं निःश्रेयस चाहते हैं:

'अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।
रिपु सन करेउ बतकही सोई। काज हमार तासु हित होई।"[११]

वे अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते:

'मैं जानहुँ निज नाथ स्वभाऊ।
अपराधिहुँ पर कोह न काऊ॥"[१२]

शरण में आकर एक बार भी प्रणाम करने वाले क्रूर, कुटिल आदि को वे अपना लेते हैं:

'क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसोकी।।
ते सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किए अपनाए।।'[१३]

अपने जन के लिए उनके पास कुछ भी अदेय नहीं हैं। वे सदा प्रणत पर प्रीति करते हैं तथा उनके वश में रहते हैं:

'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारी जन के बस होत सदा यह रीति।'[१४]

तुलसी के राम : विरुद्धधर्माश्रयी एवं विराट पुरुष : तुलसी ने अपने राम की अनिर्वचनीयता एवं अज्ञेयता के प्रतिपादनार्थ उनकी विरुद्धधर्माश्रयता और विराटत्व का अनेकशः उल्लेख किया है। 'विनयपत्रिका' के निम्नोक्त पद में राम के विरोधी गुणों का युगपत वर्णन किया गया है:

'सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थगूढार्चि भक्तानुकूलं।
सिद्ध साधक साध्य वाच्य वाचक रूप मम जापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा।'[१५]

इसी प्रकार तुलसी के राम अनेकनामा होते हुए भी अनाम हैं: 'नाम अनेक अनाम निरंजन'। तुलसी ने अपने राम के विराट रूप का भी चित्रण किया है। उनके राम विश्वरूप एवं व्यापक हैं। विराट रूप राम का पाताल-लोक पैर, ब्रह्मलोक शिर, सूर्य नेत्र, चन्द्रमा मन, मेघमाला केशकलाप, वायु श्वास, माया हँसी, अहंकार शिव तथा ब्रह्मा बुद्धि हैं। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में 'मनुजवास सचराचर रूप राम भगवान' हैं। तुलसी यह मानते हैं कि प्रकृति, महत्तत्त्व, पंचभूत, पंचमात्राएँ, गुण, देवता, मन, इन्द्रिय, प्राण, काल, परमाणु, आदि जो कुछ भी व्यक्त-अव्यक्त है, वह सब रामरूप ही है। राम ही आदि मध्य और अन्त में हैं, जैसे वस्त्र में तन्तु, घड़े में मिट्टी, कुण्डलआदि में सुवर्ण देखा जाता है, उसी प्रकार राम विश्व में दिखलाई देते है।[१६]

तुलसी के राम और त्रिदेव : तुलसी की मान्यता है कि राम त्रिगुणों को पृथक्-पृथक् धारण कर ब्रह्मा रूप से जगत् की सृष्टि, विष्णु रूप से उसका पालन तथा रुद्र रूप से संहार करते हैं। परब्रह्म राम से ही इनकी उत्पत्ति मानते हैं:

'संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासुअंस ते नाना।
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥'[१७]

तुलसी के राम ने विधि को विधिता हरि को हरिता तथा शिव को शिवता प्रदान की है:

'हरिहिं हरिता, विधिहिं विधिता सिवहिं सिवता जेहि दंई।'[१८]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कतिपय स्थलों पर तुलसी ने राम को क्षीराब्धिशायी विष्णु कहा है। वस्तुतः तुलसी को महाविष्णु एवं विष्णु की परिकल्पना मान्य है। जहाँ वे राम को विष्णु कहते है वहाँ उनका तात्पर्य अवतारी विष्णु (महाविष्णु) से है किन्तु जहाँ विष्णु को राम-अंश मानते हैं, वहाँ उनका तात्पर्य ब्रह्मत्रयी के विष्णु से है।[१९]

तुलसी के राम : लीलापुरुष : तुलसी अपने राम को अवतारी रूप में प्रतिपादित करते

हैं। राम ने भिन्न-भिन्न रूप धारण किए—'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम वपुधारी'।[२०] तुलसीदास अपने पूर्व प्रचलित सभी अवतार हेतुओं को स्वीकार करते हुए भी भक्त-प्रेम और लीला को प्रमुख अवतार हेतु मानते हैं— 'जब जब राम मनुज तनु धरहीं' भगत हेतु लीला बहु करहीं।[२१] तुलसी के राम लीलापुरुष हैं। राम स्वयं कहते हैं 'मै क करबि ललित नर लीला।'[२२] तुलसी के राम कौतुकी हैं, वे लीलावपु धारण करते हैं। इन लीलाओं के गान, श्रवण, अभिनय आदि से भक्तजन आनन्दित होते हैं और भवाब्धि संतरण कर जाते हैं। राम की लीलाएँ इतनी मनोहारिणी एवं परमानन्दप्रदायिनी हैं कि जीवनमुक्त भी निरंतर लीलागान में निरत रहते हैं— 'जीवनमुक्तमहामुनि जेऊ। हरि गुन सुनुहि निरंतर तेऊ।'[२३] जिन लोगों को लीलामहाब्धि में अंवगाहन सुलभ हो जाता है, वे पुरुषार्थ श्रेष्ठ मोक्ष की भी कामना नहीं करते। तुलसी की मान्यता है कि लीलागान अन्तःकरण में निहित गूढ़ातिगूढ़ अज्ञान (मल) को भी नष्ट कर देता है, जिससे प्रेमभक्ति की प्राप्ति होती है:

'लीला सगुन जे कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।'[२४]

तुलसी के राम की लीला दनुजों को मोहित करने वाली किन्तु भक्तों को सुख प्रदान करने वाली है— 'अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहनि जन सुखकारी।।'[२५] तुलसी के राम की लीलाएँ अत्यन्त गूढ़ हैं, मनवचनकर्म से उनकी तर्कणा नहीं की जा सकती हैं— 'चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं कर्म मन बानी॥'[२६]

तुलसी के राम : लोकपक्ष : तुलसी के राम दशरथनन्दन, श्रुतिसेतुपालक और लोकरक्षक हैं। लोक में मर्यादा की रक्षा करना उनका लक्ष्य है। तुलसी लोक में सुदृढ़ व्यवस्था के आग्रही हैं, उनकी दृष्टि में व्यवस्था टूटने या विकृत होने पर लोक में बिखराव आ जाता है तथा अनाचार और अत्याचार बढ़ जाता है। तुलसी के राम 'भूमिभयतारण' हेतु अवतरित होते हैं। वे लोक में मनुष्यवत् सदाचरण करते हैं। निर्गुण ब्रह्म ही दशरथ-सुत के रूप में सगुण साकार होकर अवतरित हुआ है। इस तथ्य को नकारने वाले तुलसी की दृष्टि में मूढ़, अज्ञानी, अंध, अकोविद तथा अतत्त्वविद् हैं।

'तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहिं श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोहपिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच॥'[२७]

'दसरथसुत' राम के ब्रह्मत्व पर संदेह करने वाली पार्वती को प्रबोध देते हुए शिव स्पष्ट कहते हैं :

'जेहिं इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान।'[२८]

वस्तुतः तुलसी के राम परब्रह्म, सगुण राम और दशरतसुत तीनों हैं। उनमें परब्रह्मत्व और मनुष्यत्व का अपूर्व समन्वय है। तत्त्वज्ञ ऋषि मुनि आदि उनमें ब्रह्मत्व का दर्शन करते हैं तथा साधारण जन उन्हें उदात्तपुरुष गरीबनिवाज, परोपकारी, दीनबन्धु तथा इष्टदेव, उपास्य आदि रूपों में अपने निकट पाते हैं। तुलसी के राम इसीलिए लोकनायक हैं। दुःखार्त व्यक्ति

जब राम को पुकरता है तो वह दौड़कर उसका दु:ख बँटाते हैं, विपत्ति में धैर्य बँधाते हैं। तुलसी के राम गज, गणिका, अजामिल, गीध आदि का उद्धार करने वाले राम हैं। जहाँ तुलसी अपने राम के मानव रूप का चित्रण करते हैं, वहाँ उनका चरित्र और भी सहज और उदात्त हो जाता है। और वे सामान्य जन के बहुत निकट आ जाते हैं। केवट, ग्रामीण जन तथा वनवासी राम से सहज रूप में बात करते हैं तथा राम से अपनी सेवाएँ स्वीकार करने का विशेष आग्रह करते हैं। तुलसी के राम इन सबको वत्सलभाव से अपनाते और प्यार देते हैं। जो कोई भी राम के सान्निध्य में पहुँचता है, उसे वे बड़प्पन अवश्य देते है। तुलसी का यह स्वानुभूत सत्य है:

'नहिं अचरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्ह रघुबीर बड़ाई।'

तुलसी के राम की पहचान उनकी 'विनयपत्रिका' के एक पद से सहजरूप में हो जाती है:

'सुमिरि सनेह से तू नाम राम राय को।
संबल निसबंल को, सखा असहाय को॥
भाग है अभागेहूको, गुन गुनहीनको।
गाहक गरीबको, दयाल दानि दीन को॥
कुल अकुलीन, सुन्यो है वेद साखि है।
पाँगुरे को हाथ-पाँय, आँधरे को आँखि है॥
माय-बाप भूखे को, अधार निराधार को।
सेतु भवसागर को, हेतु सुखसार को।
पतितपावन रामनाम सो न दूसरो.
सुमिरि सुमिरि भयो तुलसी सो ऊसरो।'[२९]

नि:संकोच कहा जा सकता है कि सबसे उदात्त और महान् व्यक्ति वह है जिसे दलित, खिन्न, उपेक्षित तथा तिरस्कृत जन प्रिय हों। तुलसी के सीता-राम ऐसे ही हैं—

'गिरा अरथ जल विचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदहुँ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥'[३०]

तुलसी के राम सच्चे अर्थों में दीनबन्धु हैं, वे दीनों की रक्षा ही नहीं करते अपितु उन्हें बन्धुवत् अपनाकर उनकी मर्यादा में वृद्धि भी करते हैं। निषादराज स्वीकार करते हैं:

'राम कीन्ह आपन जबहीं ते। भयउँ भुवन भूषन तबहीं तें।'

तुलसी के काकभुंशुण्डि भी कहते हैं—

'तबतें मोहिं न व्यापी माया। जबतें रघुनायक अपनाया॥'[३१]

ध्यातव्य है कि तुलसी के राम दीन-दुखियों के सर्वदा हिमायती हैं। राजा, महाराजा, सामंत, सेठ के हिमायती...... के रूप में तुलसी ने राम को कहीं चित्रित नहीं किया। स्वयं राजा होने पर भी राम अपने को सामान्य नागरिक की श्रेणी में मानते हैं। तभी तो वे जन सामान्य की सभा में नागरिकों को अभय करते हुए कहते हैं:

'जौ अनीत कछु भाखौ' भाई। तौ मोहि 'बरजहु भय बिसराई।'

तुलसी के राम मानवता और कृतज्ञता के प्रतिमान हैं। राक्षसों तथा आततायियों द्वारा पीड़ित ऋषि-मुनियों तथा सामान्य जनों की रक्षा करना मानवता की ही रक्षा है। सुग्रीव-विभीषण को संरक्षण देना, बालि और रावण के आतंक राज्य को समाप्त करना भी मानवता का ही पोषण है। इसी प्रकार तुलसी के राम साम्राज्यवाद के विरोधी हैं। वे जनतांत्रिक मूल्यों को महत्त्व देते हैं। बालि एवं रावण के वधोपरान्त वे स्वयं उनके राज्यों का आधिपत्य नहीं ग्रहण करते अपितु सुग्रीव और विभीषण को राजा बनाते हैं। अंगद को युवराज बनाकर उसके साथ भी न्याय करते हैं। प्रिय प्रजा को सब प्रकार से सुखी रखना राम का मूल मंत्र है:

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सोनृप अवसि नरक अधिकारी।'[३२]

तुलसी ने एक स्थल पर राम की प्रजावत्सलता को लोक के सन्दर्भ में उद्घाटित किया है:

'मनि मानिक महँगे किए सहँगे जल तृन नाज।
तुलसी ऐसे जानिबो राम गरीब नेवाज॥'

—दोहावली

कृतज्ञता तुलसी के राम का महान गुण है। वे अपने प्रति किए गए उपकारों के लिए उपकारियों के प्रति अतिशय कृतज्ञ हैं। हनुमान के प्रति कृतज्ञ भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं:

'सुनु कपि तोहिं समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखउँ करि विचारि मन माही।'

तुलसी के राम बानर-भालुओं के प्रति कृतज्ञ होते हैं। अयोध्या आकर गुरु वशिष्ठ से परिचय कराते हुए कहते हैं—

'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे।
मम हित लागि जनम इन्हहारे। भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे॥'

राम अपने शील और सदाचार के लिए विश्वविश्रुत हैं। वे तृणमात्र उपकार के लिए भी कृतज्ञ होते हैं। तुलसी के राम मानवता के सच्चे प्रतिनिधि हैं और इसिलिए प्रत्येक प्राणी के सर्वाधिक निकट हैं।

तुलसी ने अपने रामराज्य में जिन मानमूल्यों, मर्यादाओं, व्यवस्थाओं की स्थापना की है उन सबके मूल में उनके राम हैं। राम तुलसी के सबसे बड़े जीवन मूल्य हैं। इसीलिए तुलसी अपनी कसौटी बनाते हैं— 'मानिए सबहिं राम के नाते।' तुलसी के राम व्यापक मानवता के प्रतीक हैं। वे विश्वरूप रघुवंशमणि हैं। तुलसी ऐसे राम के प्रति सम्मुख करने वाले साधनों को ही सफल मानते हैं, इनके विपरीत साधनों को भस्म करने के पक्ष में हैं:

'जरउ सो सम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ॥'

विश्वमानवता के पोषक तुलसी के राम कहते हैं—

'अखिल विस्व यह मोर उपाया। सबपरि मोरि बराबर दाया।'

सब पर बराबर दया करने वाले तुलसी के राम ही सर्वदा-सर्वथा निरुपम और निरवधि हो सकते हैं:

. 'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै॥'[३३]

इस प्रकार तुलसी के राम अपने आप में विशिष्ट हैं। तुलसी की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा ने लोक-परलोक के मंगलार्थ अपने राम का निरूपण किया है, जो सर्वथा देशकालातीत हैं; अत: राम सर्वदा समान रूप से प्रासंगिक रहेंगे।

संदर्भ :

१. मानस, १/११२/८
२. वृहदाण्यकोपनिषद्, ३/८/८
३. मानस, १/११६/४५,७/४२/३, १/१२०/६
४. तैत्तिरीयोपनिषद, ३/१/१
५. विनयपत्रिका, पद, ७८/३
६. सतद्वै सत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म। प्रश्नोपनिषद्, ५/२
७. द्वे वाव ब्रह्मये रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च। वृहदारण्यकोपनिषद, २/३/१; मुण्डकोप० २/१/२
८. मानस, १/३४/६, ३/११/११
९. मानस, ५/ श्लोक १
१०. विनयपत्रिका, पद ५६/५-८
११. मानस, २/१८३/६, ६/१७/८
१२. वही, २/२६०/५
१३. वही, २/२९९/३-४
१४. विनयपत्रिका, पद ९८
१५. विनयपत्रिका, पद ५३
१६. वही, पद ५४
१७. मानस, १/१४४/६, २/२१/५
१८. विनयपत्रिका, पद १३५/३
१९. मानस, २/१३९/५, १/१४४/६
२०. मानस, ६/११०/३
२१. वही, ७/७५/२
२२. वही, ३/२१/१
२३. वही, ७/५३/२
२४. वही, १/३६/५
२५. मानस. ७/७३/१
२६. वही, ६/७४/१
२७. मानस, १/११४
२८. वही, १/११८
१९. विनय पत्रिका, पद ६९
३०. मानस, १/११८
३१. वही, ७/८९
३२. मानस, २/७१/६
३३. मानस, ७/९२ छंद

पूर्व मध्यकालीन गढ़वाली मूर्तिकला में शैव धर्म

—*अजय परमार*

भगवान शिव तथा उनसे सम्बन्धित धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। भारत में आज से पांच सहस्त्र वर्ष पूर्व भी रुद्र-पशुपति की प्रतिमा तथा लिंग के रूप में पूजा सुप्रचलित थी। सैन्धव सभ्यता के स्थल मोहनजोदड़ो से प्राप्त रुद्र-पशुपति अंकित मोहर इसका प्रमुख उदाहरण है।

उत्तरॉचल राज्य के अन्तर्गत स्थित गढ़वाल हिमालय क्षेत्र, (जिसे प्राचीन काल में केदारखण्ड के नाम से जाना जाता था), भी युगों-युगों से भगवान शिव की लीला और भक्तों द्वारा की गई उनकी अराधना का मुख्य स्थल रहा है। महाभारत और पुराणों में वर्णित कैलास ओर कैलासवासी शिव का क्रीड़ाक्षेत्र गढ़वाल है। डॉ० भगवत शरण उपाध्याय का कथन है, कि हिमवान (हिमालय) की पुत्री पार्वती-उमा ही शाक्तों की ईष्ट देवी बनीं, जिनके दोनों रूप सती और उमा की क्रीड़ास्थली बदरी-केदार क्षेत्र में ही थी। सती दाह कनखल (हरिद्वार) में हुआ और उमा का जन्म हिमवान में। यहीं उमा का विवाह और कुमार की उत्पत्ति भी हुई। यही कैलासशिखर शिव का तथा नन्दाशिखर उमा का निवास स्थान माना गया है, और मारकण्डेय पुराण के देवी महात्म्य की क्रीड़ा स्थली भी यहीं प्रतीत होती है। कालिदास ने भी कुमार सम्भव में हिमवान की राजधानी औषधिप्रस्थ, गंधमादन, मेरू और कैलास की स्थिति गढ़वाल के रूद्र हिमालय में मानी है।[१] तुंगनाथ पर्वत पर रावणशिलास्थान में, रावण ने शिव की तपस्या कर वरदान प्राप्त किया था।[२] यहीं दशौली (बैरासकुण्ड) में उसने अपने दस सिरों को काटकर शिव को समर्पित किया। यहीं उसने वेदाध्ययन कर, इस पर अपना प्रसिद्ध कृष्णयजुर्वेद भाष्य लिखा। नारद नें रुद्रप्रयाग में रुद्र चरणों मे बैठकर संगीत शास्त्र का अध्ययन किया। यहीं रावण के भाई कुबेर ने शिव की तपस्या की[३], यहीं रावण का भाई खर निवास करता था।[४] यहीं त्रियुगी नारायण में शिव पार्वती का विवाह सम्पन्न हुआ और मंदाकिनी तट पर गौरीकुण्ड के निकट गणेश और कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। रामायण में राम-लक्ष्मण के विरूद्ध युद्ध में रावण और मेघनाद का बार-बार हिमवंत में, शस्त्र-शास्त्रों के आचार्य शंकर से युद्ध-कला के सम्बंध में निर्देश प्राप्त करने के लिए आने का वर्णन है। महाभारत में भी पाशुपत आदि दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के निमित्त कृष्णार्जुन शिव का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। गढ़वाल हिमालय क्षेत्र में ही स्थित केदारनाथ मंदिर द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक लिंग है। जिसके इतिहास के विषय में वायु पुराण, केदारकल्प तथा केदारखण्ड मे चर्चा है। यही नहीं तुंगनाथ, रुद्रनाथ, मदमहेश्वर तथा कल्पेश्वर, जहां शिव के क्रमशः बाहु, मुख, नाभी और जटाओं की पूजा की जाती है, केदारनाथ के साथ मिलकर पंचकेदार कहलाते हैं। गढ़वाल की प्राचीन मुद्राओं, जो आज से २५०० वर्ष पूर्व प्रसारित हुई थी, में सरिता (गंगा), त्रिशूल, नंदी, वृषभ और कैलास के वर्णन मिलते हैं। आज भी अकेले इस क्षेत्र मे कई सहस्त्र शिव मंदिर हैं, जिनमें

मुख्यत: शिवलिंग और शिवपरिवार की प्रतिमाएं मिलती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गढ़वाल हिमालय की यह भूमि शिव के सहस्र तीर्थों एवं मंदिरों से अलंकृत होने के साथ-साथ, शैव धर्म की साधना की प्रमुख स्थल भी है। शिव के अनेक महान तीर्थो एवं मंदिरों की पुण्य भूमि होने के कारण, प्राचीन ऋषि-मुनियों से लेकर वानप्रस्थी, परिव्राजक, राजा, रंक तथा समान्य गृहस्थ आदि सभी की युग-युग में यही कामना रही है, कि उनके जीवन की अंतिम घड़ियाँ गढ़वाल हिमालय परिक्षेत्र में बीतें। फलस्वरूप विभिन्न बाहरी संस्कृतियों के लोग आध्यात्मिक शांति और मोक्ष प्राप्ति की मंशा से यहां आते रहे, और यह आव्रजन पूर्व मध्य काल में उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा, जब यहां धार्मिक रूप से सहिष्णु कत्यूरी राजवंश का शासन स्थापित हुआ। उनके लगभग तीन सौ-सवा तीन सौ वर्ष के शासन काल (७ वीं शती ई० के अन्त से ११ वीं शती ई० के आराम्भ) में, भारत के सुदूर प्रदेशों से लोगों के आने का क्रम निर्बाध गति से जारी रहा। कत्यूरी नरेश अपने को परम महेश्वर और परम ब्रह्मण्य कहते थे। भगवान शिव पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि भगवान शिव की अनुकम्पा से ही उन्हें राजलक्ष्मी प्राप्त हुई हैं। फलत: उन्होने स्वयं अपने राज्य मे शैव धर्म के प्रचार और प्रसार में अपना सहयोग प्रदान किया। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में कत्यूरी शासक निम्बर देव के शासन काल में जगद्‌गुरु शंकराचार्य के गढ़वाल क्षेत्र में आने से इस धर्म की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हुआ और पूर्व मध्यकाल में शिव के अनेक रूपों की मूर्तियों का निर्माण हुआ। अत: मनुष्य की त्रास, कौतूहल एवं जिज्ञासा ने यहाँ शैव धर्म को जिस रूप मे जन्म दिया, गढ़वाल हिमालयी मूर्तिकला उसी रूप में प्रकट हुई और गढ़वाल-हिमालय की संस्कृति की संवाहक बनीं। इस दौरान विभिन्न बाहरी संस्कृति के लोगों से जब स्थानीय संस्कृति का सम्पर्क स्थापित हुआ, तो हिन्दू धर्म और कला, जो विभिन्न संस्कृतियों के अन्तर्गत पल्लवित हुई थी, नवीनता के साथ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई। तभी तो हम यहां कि मूर्तिकला में शिव को रौद्र या संहारक रूप में ही नहीं देखते, बल्कि उनके शांत और सौम्य रूप के भी हमें दर्शन होते हैं।

गढ़वाल हिमालय क्षेत्र में कत्यूरी शासनांतर्गत पूर्व मध्यकालीन शिव मूर्तियां निम्नलिखित रूपों में प्राप्त होती हैं—

1. **लिंग मूर्ति** : प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से शिव प्रतिमा के दो रूप हैं— लिंग प्रतिमा और रूप प्रतिमा। सम्पूर्ण भारत में रूप प्रतिमा के उदाहरण उतने नहीं प्राप्त हुए हैं, जितने कि लिंग प्रतिमा के। स्वयं शिव और शक्ति को लिंग का प्रतीक माना गया है। जिससे सृष्टि का उद्भव हुआ।[५] आगम और शिव ग्रंन्थो में लिगों के तीन प्रकार बताये गये है। (क) निष्कल (लिंग) (ख) सकल (बेरचा प्रतिमा) (ग) मिश्र (मुख लिंग)

निष्कल लिंग : लिंग पुराण (३१.८) में निष्कल लिंगो की पूजा ही योग्य मानी गई है। गढ़वाल हिमालय में ये बहुतायत से प्राप्त हुए हैं। ऊर्ध्वभाग या पूजा भाग रूपायण के आधार पर इन्हें दो वर्गो में रखा जा सकता है—

(I) वे लिंग जिनका स्वरूप वास्तविक शिश्न का है तथा इनमें शिश्न रेखाएं (ब्रह्मसूत्र) बनी हैं। और ऊर्ध्व भाग क्रमशः छत्र और कुकुटाण्ड आकार के हैं।[६]
(II) वे लिंग जो पूर्ण आकारवादी रूप में निर्मित किये गये। इनमें ऊर्ध्वभाग बेलनाकार, ऊपर प्रायः सपाट तथा शिश्न रेखाएं (ब्रह्मसूत्र) आकारवादी रीति से बनी हैं।
सकल लिंग : आकार में निष्कल लिंग के समान हैं। परंतु भोग पर्याय में एक हजार या इससे अधिक क्षुद्र लिंगो की रचना उल्लेखनीय है।
मुख लिंग : प्रारम्भिक मुख लिंगो में एक मुख या पंच मुख आते है। इनमें एक मुख समस्त पंच इंद्रियों या पंचतत्वों का प्रतीक माना गया है। चतुर्मुखी लिंगो में रुद्र भाग पर जटाजूट सहित चार मुख तथा ऊपर बाहर निकला वृत्ताकार भाग पंचमुख होता है। ये चार मुख सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र के तथा वृत्ताकार ऊर्ध्व भाग ब्रह्मण्ड का द्योतक है। जबकि कुछ विद्वान इन चार मुखों को शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्तपुरुष रूप तथा शीर्ष पर पांचवे को ईशान मानते हैं।

इस क्षेत्र से शिव लिंगोद्भव मूर्ति की प्राप्ति अति विशिष्ट है। वैसे पंचोपासना के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले पंचायतन शिव लिंगो में विष्णु, सूर्य, उमा, महेश, गणेश का अंकन मिलता है, जो कि क्रमशः वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य सम्प्रदाय का प्रतीक है। परन्तु इस मूर्ति में गणेश के स्थान पर ब्रह्मा का निरूपण किया गया है।

2. **वीणाधर दक्षिणामूर्ति** : शिव की शांत मूर्तियों में दक्षिणा मूर्तियाँ उस स्वरूप को प्रकट करती हैं, जिसमें वे ज्ञान-विज्ञान और कलाओं के उपदेशक के रूप में प्रकल्पित किये गये हैं। शिव के इस रूप की मूर्तियां पूरे भारत में समान रूप से मिलती हैं। परन्तु गढ़वाल हिमालय में इन मूर्तियों की प्राप्ति भी उल्लेखनीय है। इन मूर्तियों में पद्म पर ललितासन मुद्रा में बैठे, वस्त्राभूषणों से अलंकृत त्रिनेत्रधारी चतुर्भुजी शिव के पिछले हाथों में, क्रमशः पद्म या अक्षमाला और त्रिशूल तथा अगले दोनों में वीणा शोभायमान है।

3. **कल्याण सुन्दर मूर्ति** : शिव विवाह से सम्बन्धित मूर्तियाँ कल्याण सुंदर मूर्ति कहलाती हैं। सम्पूर्ण भारत मे इस प्रकार की बहुसंख्यक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[७] इसमें चतुर्भुजी शिव पार्वती के हाथ को अपने अगले दाहिने हाथ से लेकर पाणिग्रहण करते दर्शये जाते हैं। वस्त्राभूषणों से अंलकृत शिव, पार्वती के समक्ष पुरोहित रूपी ब्रह्मा यज्ञाग्नि के आगे बैठे तथा कन्या के दाता विष्णु लक्ष्मी सहित हाथ में घट लिये प्रदर्शित किये जाते हैं।

4. **शिवनृत्य मूर्ति** : शिव का एक प्रसिद्ध रूप नटराज का है। उन्हें नाट्य शास्त्रों का प्रथम प्रतिस्थापक माना गया है। आगमों में वर्णित है कि नटराज शिव एक सौ आठ नृत्यों के अन्यतम नट हैं। वास्तव में नटराज मूर्ति विश्वकला के लिए भारत का महानतम योगदान है।[८] शिव की नृत्य मूर्तियाँ दक्षिण भारत में अनेक रूपों में उपलब्ध हुई हैं। गढ़वाल हिमालय में अब तक कुछ ही स्वतंत्र मूर्तियाँ देखने में आयी हैं। इन मूर्तियों में विभिन्न वस्त्राभूषणों से अलंकृत अति भंग मुद्रा में नाचते शिव के हाथ आकषर्क मुद्रा में लहरा रहे हैं। उनके हाथो में त्रिशूल, सर्प, डमरू, खट्वांग शोभायमान हैं। कुछ मूर्तियों में वे अगले दोनों हाथों

से वीणा बजाते दर्शये गये हैं।

5. **एकल शिव मूर्ति** : गढ़वाल हिमालय क्षेत्र से हमें एकल शिव की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। जिनमें विभिन्न वस्त्राभूषणों से अलंकृत, हाथों में आयुध तथा बाहों में उत्तरीय धारण किये शिव, फुल्ल पद्म पर आसनस्थ प्रदर्शित है।

6. **अंधकासुर वध मूर्ति** : गढ़वाल हिमालय क्षेत्र में अष्टभुजी, चतुर्भुजी अंधकारसुर वध मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रतिमा में शिव अंधकासुर का वध कर रहे हैं। उनके दोनों हाथ हाथी की खाल इस प्रकार थामे हैं, जैसे किसी को छाया दे रहे हों। उनके बाकि हाथों में परश, नाग, धनुष हैं, तथा एक दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। उनका बायां पांव ठीक उसी मुद्रा में है, जिस प्रकार हमें नटराज और दक्षिणामूर्ति मुद्रा में मिलता है। खोपड़ियों की माला, सर्पयज्ञोपवीत धारण किये, जटाजूटी शिव के दाहिने ओर बैठी पार्वती-कार्तिकेय को आलिंगनबद्ध किये हैं।

7. **उमा-महेश मूर्ति** : हिमालय में स्थित कैलास पर्वत पर शिव का वास माना गया है। इसलिए कैलास में गणेश, कार्तिकेय, नन्दी और पार्वती सहित विराजमान शिव का यह रूप प्रत्येक काल में हिमालय प्रदेश के कलाकारों और उपासकों के लिए जहाँ अत्यंत प्रिय रहा, वहीं इस रूप के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा भी थी। उसी का परिणाम है कि लिंग मूर्तियों के पश्चात् इस रूप की मूर्तियां, यहाँ प्रत्येक काल में बहुलता के साथ बनती रहीं। यद्यपि कालानुरूप उसमें कुछ भिन्नताएं भी आ गईं। इन मूर्तियों में उमा महेश विभिन्न वस्त्राभूषणों, जैसे कुण्डल, बाजूबंध, कंकण, लम्बी माला, कमरबंध, चक्र व पुष्प, कुण्डल, केयूर, कटिबंध, नुपूर, अधोवस्त्र आदि से अंलकृत हैं। शिव जटामुकुट धारण किये हैं। उनकी जटा से वासुकी नाग ऊपर निकलता प्रदर्शित है। सभी मूर्तियों में शिव चतुर्भुज हैं और आसनस्थ (ललितासन, अर्द्धपर्यंक मुद्रा) अवस्था में है। जबकि कुछ मूर्तियों में वे नन्दी पर आरूढ़ हैं। उनका अगला दांया हाथ कुछ मूर्तियों में व्याख्यान मुद्रा में मातुलुंग धारण किये हुए है। निचला बायाँ हस्त बायीं जंघा पर विराजमान पार्वती को आलिंगन किये हुए है, या उनकी किसी अंग पर अवलंबित है। पिछले दोनों दायें और बायें हाथों में पुष्प और अक्षमाला या सर्प ओर त्रिशूल और अक्षमाला (या उत्पल) का अंकन है। देवी उमा का दायां हाथ शिव की कटि को, या दायें स्कंध को आलिंगन किये है। या वे अपना दायां हस्त शिव के वायें चरण पर रखी हुई हैं। देवी उमा का बायां हाथ विभिन्न मूर्तियों में या तो लहराते उत्तरीय को सम्भाल रहा है, या वे बायें हाथ में दर्पण, केतकी, पुष्प, मातुलिंग में से एक चीज को पकड़ी हैं। उमा-महेश एक दूसरे को निहारते प्रदर्शित किये गये हैं। शिव वाहन नंदी तथा पार्वती वाहन सिंह और उनके दोनों पुत्रों गणेश और कार्तिकेय का अंकन भी द्रष्टव्य है। यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि गढ़वाल हिमालय क्षेत्र से प्राप्त उमा महेश की अधिकांश मूर्तियां आसनस्थ अवस्था में प्रदर्शित हैं। परन्तु कुछ उमा-महेश की मूर्तियां स्थानक अवस्था में भी यहां प्राप्त हुई हैं।

8. अन्य शैव मूर्तियां :

(I) **भैरव मूर्ति** : शिव का सौम्य ही नहीं अशांत या उग्र रूप भी है। भैरव रूप शिव के अशांत या उग्र रूप को तो प्रदर्शित करता ही है, साथ ही तांत्रिक साधना में भी इस रूप का अत्यधिक महत्व है। प्रो० बनर्जी ने तंत्र साधना में भैरवों और योगनियों के बीच घनिष्ठ संबंध बताया है।[९] शिव के इस तांत्रिक रूप का वर्णन तंत्र और पौराणिक ग्रंन्थों में सर्वत्र प्राप्त होता है। साथ ही इनका कलांकन भी प्रचुरता में प्राप्त हुआ है।[१०] गढ़वाल हिमालय में भैरव मूर्तियां इनके बाल रूप (बटुक) और अन्य रूपों को प्रदर्शित करती हैं। इनमें बटुक भैरव मूर्तियां कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट है। इन मूर्तियों में भैरव का स्थानक, जटाजूट धारी चतुर्भुज रूप दर्शाया गया है। वे अलग-अलग मुद्राओं में घंटा, मद्यपात्र, डमरू, गजचर्म तथा विभिन्न प्रकार के आयुध (जैसे त्रिशूल, नागपाश, दंड, खर्पर आदि) धारण किये हैं। उनकी मुखाकृति अति भंयकर है। गले में कपालमाला, कपालयज्ञोपवीत, कानों और कंठ में सर्पआभारण का अंकन है, और हस्त-पदादि कंटक भूषित है।

(II) **लकुलीश मूर्ति** : पुराणों में लकुलीश को शिव का २८वां अवतार कहा गया है। प्राय: लकुलीश का अर्थ दंड या लंगोट धारण करने वाले से लिया जाता है। इन मूर्तियों में द्विभुजी लकुलीश वस्त्राभूषणों से अंलकृत हैं। उन्हें प्रस्तर रथिका पर, या चन्द्रशाला के मध्य भाग पर, या प्रस्तर पट्ट पर और मंदिर के प्रवेश द्वार पर पद्मासन या अर्द्धपर्यंक मुद्रा में विराजमान दर्शाया गया है। इनका दायां, बायां हाथ क्रमश: अक्षसूत्राभय (या अभय मुद्रा में) और लकुटयुक्त है या लकुट अथवा मातुलिंग धारण किये हैं।

(III) **हरिहर मूर्ति** : वायु पुराण में विष्णु को शिव के वाम भाग में प्रतिस्थापित करने का उल्लेख आया है और शिव-विष्णु के इसी रूप को हरिहर कहा गया है।[११] सम्भवत: वैष्णव और शैव मतावलम्बियों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से ही, हरिहर रूप की मूर्तियाँ गढ़ी गईं। इसी क्रम में आगे हिन्दू और बौद्ध धर्म में भी समन्वय की भावना से संयुक्त मूर्तियाँगढ़ी गईं। कहीं-कहीं ब्रह्मा, विष्णु, महेश को एक ही समन्वित रूप में दिखाया गया। श्री तत्त्व निधि में हरिहर मूर्ति शिव परिवार में वर्णित है। अन्यत्र भी यह शिव की सौम्य-लीला मूर्ति मानी गयी है। अत: मैंने हरिहर रूप को गढ़वाल हिमालय की मूर्तिकला का वर्गीकरण करते हुए शैव प्रतिमाओं के अन्तर्गत ही रखा है।

गढ़वाल हिमालय क्षेत्र से प्राप्त समपाद स्थानक हरिहर प्रतिमाओं में हरिहर का दायां भाग शिव-रूप में है। गले में मुण्डमाल धारण किये, चंद्र सज्जित बाघम्बरधारी शिव विभिन्न वस्त्राभूषणों से सज्जित हैं। ऊपरी दायें हाथ में त्रिशूल है तथा निचलाा दायां हाथ वरद् मुद्रा में है या अक्षमाला या पद्म या सर्प धारण किये हैं। हरिहर का बायां भाग विष्णु रूप में है। उन्हें अर्द्धांश पीताम्बरधारी दर्शाया गया है, वे विभिन्न अलंकरणों से सज्जित· हैं। इनके ऊपरी बायें हाथ में चक्र है, तथा निचले बायें हाथ में शंख या पद्म धारण किये हैं। हरिहर के दायें बायें पार्श्व में क्रमश: नंदी और गरूड़ के चित्र अंकित हैं।

गणेश और कार्तिकेय यद्यपि विशुद्ध वैदिक देवता हैं, परन्तु उन्हें शिव-पार्वती के पुत्रों

के रूप में भी जाना जाता है। सम्पूर्ण भारत में इनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं परन्तु शिव-पार्वती मूर्तियों के साथ भी इनका अंकन बहुतायत में सर्वत्र प्राप्त होता है। अतः इस आधार पर इनकी मूर्तियों को शैव मूर्तियों के अन्तर्गत रखना समीचीन होगा।

(IV) गणेश या विनायक मूर्ति : गुप्तकाल में जब पंचदेवोपासना का महत्त्व बढा, तब गणपति समृद्धि के प्रतीक तथा मुदमंगलदाता देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। पूर्व मध्यकाल अर्थात् कत्यूरी काल में गणेश मूर्तियाँ सर्वत्र बहुसंख्या में निर्मित हुईं। फलस्वरूप इस समय गढ़वाल हिमालय में भी इनका अंकन बहुतायत किया गया। इस क्षेत्र में उपलब्ध गणेश मूर्तियाँ आसनस्थ, स्थानक ओर नृत्यरत अवस्थाओं में हैं, और चार रूपों में भी प्राप्त हुई हैं। १ स्वतंत्र, २ द्वार उत्तरांग पर, ३ मंदिर भित्तियों तथा रथिकाओं में, ४ सप्तमातृका नवग्रह शिला पर दाहिनी ओर तथा पार्वती प्रतिमा के उपरिभाग में और उमा-महेश की प्रतिमा में नीचे कार्तिकेय के साथ। सर्वाधिक उदाहरण स्वतंत्र और द्वारोत्तरांग मूर्तियों के पाये जाते हैं। इसलिए गढ़वाल हिमालयी वास्तुकला के अन्तर्गत जो भी मंदिर और भवन बनाये गये हैं, उन सभी में इन्हें विघ्न विनाशक और मंगल करने वाले देवता के रूप में, द्वार उत्तरांगों पर, ललाटबिम्ब रूप में स्थान प्रदान किया गया है। गढ़वाल हिमालय क्षेत्र से प्राप्त द्विभुजी या चतुर्भुजी गणेश मूर्तियां ज्यादातर अर्द्धपर्यंकासन या ललितासन मुद्रा में हैं। उन्हें एक दंत गजबदन सूर्पकर्ण तथा लम्बोदर दर्शाया गया है। उनकी सूंड वामावर्त है, तथा कुछ प्रतिमाओं में वे त्रिनेत्रधारी प्रदर्शित हैं। अधोवस्त्र धारण किये वस्त्राभूषणों से सज्जित गणेश हाथों में स्वदंत, अक्षमाला, परशु, मोदक पात्र, मूली तथा पद्म धारण किये हैं। गणेश के वाहन मूषक को उनके पैरों के पास प्रदर्शित किया गया है।

गढ़वाल हिमालय में नृत्यरत गणपति मूर्तियाँ अल्प हैं। इनकी शैलीगत विशेषताएँ उपरोक्त आसनस्थ गणेश मूर्तियों के समान ही हैं। अंतर सिर्फ इतना है कि नृत्यरत गणेश द्विभुजी, चतुर्भुजी होने के अलावा अष्टभुजी, दसभुजी भी दर्शाये गये हैं।

(V) कार्तिकेय मूर्ति : शिवपुत्र कार्तिकेय को देवसेनापति तथा पर्वतीय प्रदेश का देवता माना जाता है, इसलिए गढ़वाल हिमालय क्षेत्र की पर्वतीय और आयुधजीवी जातियों (जैसे यौधेये, कार्तिकेयपुर के खस) का इनकी उपासना करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, फलतः कार्तिकेय की एकमुखी, त्रिमुखी तथा षडानन मूर्तियाँ यहाँ बहुसंख्या में मिली हैं। इन मूर्तियों का निर्माण या अंकन यहाँ द्वार उत्तरांगों, रथिकाओं पर उमा-महेश मूर्तियों के साथ-साथ स्वतंत्र रूप में भी देखने को मिलता है। त्रिशिख केश सज्जा और विभिन्न वस्त्राभूषणों से सज्जित द्विभुजी या चतुर्भुजी कार्तिकेय को मयूरारूढ़ या त्रिभंग मुद्रा में खडे दर्शाया गया है। उनका एक हाथ अभय मुद्रा में है, या वो मयूर को दाना खिला रहे हैं। जबकि दूसरे हाथ में शूल या शक्ति प्रदर्शित है। कुछ मूर्तियों में वे दोनों हाथ से त्रिशूल मातुलिंग पकड़े हैं। इन मूर्तियों में कार्तिकेयवाहन मयूर का अंकन भी कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पूर्व मध्यकाल स्थानीय तथा बाहरी संस्कृतियों के संयोग का काल था, इसलिए इस काल की मूर्तिकला में हमें भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण की कलाओं का,

स्थानीय कला के साथ संगम देखने को मिलता है। परिणामस्वरूप इस काल में कत्यूरी राजवंश के अन्तर्गत जिन शैव मूर्तियों का निर्माण किया गया, उनमें कुछ विशेषताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं—

(1) यह क्षेत्र प्रारंभ से ही शिव की साधना का स्थल रहा है, क्योंकि प्राचीन भारतीय साहित्यों तथा ग्रन्थों में इनका निवास स्थान हिमालय क्षेत्र बताया गया है। इनमें कितने ही आख्यान ऐसे हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि, यह क्षेत्र शिव की लीलाओं और भक्तों द्वारा की गई उनकी साधना और उपासना की मुख्य स्थली रहा है। अत: इस काल में यहाँ शिव रूप की मूर्तियाँ ज्यादा गढ़ी गईं।

(2) इस काल में मूर्तियों को बनाने के लिए भूरी बालुज शिलाओं या नीली अथवा हरी झाई वाली शिलाओं का प्रयोग किया गया है। भूरी बालुज शिलाओं से बनी अनेक मूर्तियों पर काला रंग किया गया है। कलाकारों ने उन पर इतनी कुशलता से प्रलेप किया है, कि लगभग एक सहस्त्र वर्ष से भी अधिक दिनों से किये जा रहे दुग्ध, जलादि अभिषेक से भी, इनका प्रलेप धुला नही है और न ही हल्का हुआ है। आज भी यह उसी प्रकार चमकदार काला ही दिखाई देता है, जैसा उस काल में था।

(3) इस काल में शिव की मूर्तियों को विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया गया है। इनके पतले गालों, पतले होठों, नुकीले हनु और अर्द्धनिमीलित नेत्रो की रचना देखकर पता चलता है, कि इस काल के कलाकारों में सौन्दर्य भावना कितनी गहरी तथा सुसंस्कृत थी।

(4) अति पतले अधोवस्त्र, करधनी और केशों को जाली जैसे वस्त्रों से ढका हुआ दिखाया जाना इस काल की विशेषता है।

(5) इस काल में शिव के हाथों में उनकी शक्ति प्रदर्शित करने के लिए, निश्चित क्रम से उनके आयुध दिखाये जाने लगे। मूर्ति के चरणों के आस-पास अनेकों लघु मूर्तियाँ बनाकर सजाया जाने लगा।[१२] देव विग्रह के चरणों के पास उनके वाहन को अंकित करने की प्रथा चल पड़ी।

(6) इस काल में शिव की मूर्तियों में प्रभावमण्डल को कमल, पत्र, पुष्प, लता आदि से अलंकृत किया गया है।[१३]

(7) इस काल में अधिकांश शिव मूर्तियाँ कुरेद कर बनाई गई थीं। उनके मुखमण्डर पर योगस्थ भाव की अभिव्यक्ति का विशेष ध्यान रखा गया है। ये मुखमण्डल सामने से देखने में उतने प्रभावशाली नहीं लगते जितने दाहिनी या बायीं ओर से देखने पर लगते हैं।[१४]

(8) शिव एवं शिवपरिवार की मूर्तियों (विशेषकर वक्रतुण्ड गणेश की मूर्तियों) में बलखाती हुई देह मुद्रा का अति रंजित प्रदर्शन किया गया है, फिर भी गठन में कहीं से अशक्तता या असफलता नही पाई जाती।[१५]

(9) इस काल की शिवमूर्तियों में यह विशेष ध्यान देने योग्य है, कि शिवपत्नी, जिन्हें उनकी शक्ति के रूप मे भी जाना जाता है, का अंकन स्वतंत्र रूप से तो गढ़वाल हिमालय क्षेत्र

में किया ही गया है। परन्तु इस शक्ति को यहाँ की मूर्ति कला में, उनकी सहचरी के रूप में उनके साथ प्रदर्शित करने की भी प्रथा यहाँ रही है (जैसे-उमा-महेश आदि)। (10) इस युग में जबकि खजुराहों,[१६] भुवनेश्वर,[१७] बैजनाथ (कांगड़ा) आदि के मंदिरों में कामरूप प्रधान देवी देवताओं का अंकन किया जा रहा था, तथा अश्लील मुद्राओं वाली मूर्तियों के निर्माण में अनेक कलाकार व्यस्त थे, गढ़वाल हिमालय के कालाकारों ने इस पावन भूमि के मंदिरों के लिए शिव के सौम्य (शांत) तथा उग्र (प्रचण्ड) रूप वाली मूर्तियों का अंकन कर, सात्त्विक भावनाओं को जागृत करने का सफल प्रयास किया।

पूर्व मध्य काल अर्थात्, कत्यूरी शासन गढ़वाल हिमालय की मूर्तिकला का स्वर्ण युग था। क्योंकि इस काल में, जो भी मूर्तियां बनाई गईं, सभी प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अति उत्तम हैं। यद्यपि कलाकार ने कहीं-कहीं प्राचीन मूर्तिकला विषयक ग्रन्थों, जैसे—रूपमण्डन, अपराजितपृच्छा, आदि में बताये रूपों की अवहेलना भी कर दी है। परन्तु इससे मूर्ति की शैलीगत विशेषताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, और न ही प्रयोजन का उद्देश्य ही इससे आहत हुआ है। कलाकार ने शायद धार्मिक भावनाओं के वशीभूत हो कर या सुन्दरता बढ़ाने के निमित्त ये अभिनव प्रयोग किये होंगे। मूर्तिकारों द्वारा बनाई मूर्तियां यह सिद्ध करती हैं, कि उन्हें मानव शरीर और मानवीय भाव-भंगिमाओं की सूक्ष्म जानकारी भी थी। गढ़वाल हिमालय की मूर्तिकला मनुष्य की शारीरिक तथा भावनात्मक आवश्यकताओं के निकट तो थी ही, साथ ही उसने धर्म प्रधान के साथ-साथ मनुष्य प्रधान बनने का भी सफल प्रयत्न किया है।

संदर्भ :

१. डा० भागवतशरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग १, पृ० १०
२. केदारखण्ड ८१/१६
३. रामायण-उत्तरकाण्ड, १६/८, ८७/१२
४. प्राचीन चरित्र कोश, पृ० १७७
५. अपराजितपृच्छा, १९६, शिव महापुराण—विद्येश्वर संहिता, अध्याय १६
६. जे० एन० बनर्जी—रिलिजन इन आर्ट एंड आर्कियोलॉजी, पृ० ६७
७. एलिफेंटा की शिव-मंदिर गुहा में परिणयमूर्ति (७वीं शती ई०), एलोरा की रूपमूर्तियाँ (८वीं शती ई०) आदि
८. हैवल—हिमालयाज इन इडियन आर्ट, पृ० ६०
९. जे० एन० बनर्जी—रिलिजन इन आर्ट एंड आर्कियोलॉजी, पृ० ७३
१०. संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका (लखनऊ), अंक ४. १९६९ ई०, पृ० ४५, चित्र ३
११. जोशी—प्राचीन भारतीय मूर्तिकला विज्ञान, पृ० ५४, १९७७
१२. वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २७३
१३. वही, भाग २, पृ० २७०-२७२
१४. रायकृष्ण दास—भारतीय मूर्ति कला, पृ० १३७
१५. वही
१६. रायकृष्ण दास—भारतीय मूर्ति कला, पृ० १३०-१३५
१७. वही

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़ल का शास्त्रीय अनुशीलन

—आसिफ रोहतासवी

स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी-ग़ज़ल की जो परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और द्विवेदी युगीन प्रताप नारायण मिश्र, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' (उपनाम 'त्रिशूल'), लाला भगवानदीन ('रोशन'), बालमुकुन्द गुप्त, सत्यनारायण कविरत्न, रामनरेश त्रिपाठी, लोचन प्रसाद पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय, रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' आदि से होती हुई छायावाद के जयशंकर प्रसाद, 'निराला' और जानकी वल्लभ शास्त्री तक चली आती है, वह सन् १९४७ के बाद की हिन्दी कविता में शिथिल होती दीख पड़ती है। इसका एक प्रमुख कारण शायद इस काल की हिन्दी-कविता का अनेक आंदोलनों के दौर से गुजरना भी रहा है। अत: स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-गजल के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस दौर की हिन्दी कविता की प्रवृत्तियों, आन्दोलनों और अभियानों का अति संक्षिप्त विवेचन यहाँ समीचीन होगा। यह इसलिए भी आवश्यक प्रतींत होता है, क्योंकि इन्हीं आन्दोलनों की अस्पष्ट, उलझनपूर्ण अवधारणा तथा जटिल शिल्प-विधान ने रचनाकारों और पाठकों को सहज-सरल ग़ज़ल विद्या की ओर प्रवृत्त किया।

वस्तुत: प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद, नयी कविता, यथार्थवाद, अकविता आदि काव्य-आन्दोलनों में मानव-जीवन की जटिलताओं तथा त्रासदियों को ही सामान्यत: चित्रित करने की चेष्टा पायी जाती है। किन्तु, मानवीय सम्वेदनाएं केवल यहीं तक सीमित नहीं हैं। जीवन के अन्य अनेक पहलू और फलक भी हैं, जिनका इन आंदोलनों से उत्पन्न कविताओं से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। वाद-विशेष के आवर्त्त में डूबती-उतराती, नवीनता के लिए प्रयोगों की चेष्टा और व्यक्तिनिष्ठा हिन्दी-कविता को लक्ष्यीभूत करने में सफल नहीं लगती। तीन तारसप्तकों के माध्यम से लगभग डेढ़ दर्जन कवि हिंदी-कविता का नेतृत्व करते पाये जाते हैं। इन्हीं दिनों 'नकेन' का भी पदार्पण होता है। नकेनवादियों का 'प्रपद्यवाद' 'अज्ञेय' के प्रयोगवाद' की स्पर्धा में खड़ा किया गया था, जिसका उद्देश्य 'प्रयोग' को बल देने के साथ ही परम्परा का विरोध और नूतनता की दुहाई देना था। इसी प्रकार, डॉ० जगदीश गुप्त सन् १९५४ में अनेक कवियों को 'नयी कविता' के अनेक संकलनों में सामने लाते हैं। वैयक्तिकता, निराशा, बौद्धिकता, व्यंग्य, कटूक्ति आदि 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। साधारण विषयों पर भी इन कवियों ने लेखनी चलायी है। ध्यान देने योग्य है कि, इनमें एक ओर अर्थ-परंपरा का निर्वाह नहीं हुआ है तो दूसरी ओर भोंडे व्यंग्य की सृष्टि हुई है। सम्पूर्ण कविता पढ़ जाने के बावजूद न तो भावान्वीति का बोध होता है और न ही कोई चारित्रिक सृष्टि ही हो पाती है। अत:, कविता की सम्प्रेषणीयता अल्पसंख्यक पाठकों तक ही सीमित रह जाती है। दुरूहता 'नयी कविता' की 'विशेषता' बन गई, जिसकी अनुभूति 'तीसरा सप्तक' के कवियों को भी हुई। किसी सार्थक और उपयोगी कथ्य के अभाव में 'अकविता', 'ठोस कविता', 'अस्वीकृत कविता', 'जनवादी

कविता', 'भूखी पीढ़ी की कविता' आदि नामक आंदोलन ही मानो कवियों के एक मात्र लक्ष्य बन गये थे।

सन् १९८० के लगभग 'नयी कविता' की ही तरह कुछ गीतकारों ने 'गीत' को भी नूतन कथ्य और भाव-चेतना से संपृक्त करने का प्रयास किया। मुजफ्फरपुर (बिहार) से सन् १९५० में प्रकाशित 'गीतांगिनी' के ऐसे ही गीतों को राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने 'नवगीत' नाम दिया। शिल्प के धरातल पर यह 'गीत' से भिन्न है। इसकी भाषा, बिम्ब, प्रतीक, अप्रस्तुत-विधान, छन्द— सबकुछ बदला हुआ है। शिष्ट और कोमलकांत पदावली के बदले 'नवगीत' की भाषा लोक-जीवन से सम्बद्ध अनगढ़ और खुरदुरापन लिये है। इसमें ध्वनि-संघात द्वारा नया अर्थ गढ़ने की चेष्टा है। नये बिम्ब एवं सार्थक प्रतीकों से पूरित 'नवगीत' जीवन के काफी निकट आ गया। संवेदना के धरातल पर पाठकों को छूने वाला इसका अप्रस्तुत-विधान इसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

लेकिन, 'गीत' और 'नवगीत' को छोड़ हिन्दी-कविता के उपर्युक्त सभी आंदोलनों की अस्पष्ट अवधारणाओं एवं जटिल शिल्प-विधान ने ही पाठकों और गीतकारों को 'ग़ज़ल' की ओर प्रवृत्त किया। बिम्बों और प्रतीकों की आवृत्तियाँ नवगीत को भी क्रमशः ऊबाऊ बनाती गई। ऐसे में गीतात्मकता, लयात्मकता, छान्दसिकता आदि कारकों के साथ जीवन के सभी पक्षों को सहजता के साथ अभिव्यक्त करने वाली ग़ज़ल-विधा का मार्ग हिन्दी-कविता में सुगम और प्रशस्त हुआ, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

अतः, स्वातंत्र्योत्तर-काल में हिन्दी में ग़ज़ल के विकास को परिस्थितिजन्यता के साथ ही एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़ल के विकास को तीन चरणों में रखकर देखा जा सकता है, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम चरण (सन् १९६५ से १९८० ई० तक),

द्वितीय चरण (सन् १९८१ से १९९० ई० तक) और

तृतीय चरण (सन् १९९१ ई० से आजतक)।

स्वतंत्रता के बाद की हिन्दी-कविता में ग़ज़ल के विकास की एक धुंधली तस्वीर सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध में लक्षित हेती है, जहां से वह उत्तरोत्तर स्पष्ट होती गई है। इन ग़ज़लों को प्रथम चरण के अन्तर्गत रखा गया है, जिनकी काल-सीमा सन् १९६५ से सन् १९८० तक निर्धारित है। इसके पूर्वार्द्ध में बहुत कम ग़ज़लें प्रकाश में आयीं। फिर भी, दुष्यंत कुमार के पूर्व कही गईं इन ग़ज़लों का महत्व ऐतिहासिक है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग' आदि में प्रकाशित ये ग़ज़लें संख्या की दृष्टि से न्यून होते हुए भी परवर्ती हिन्दी-ग़ज़ल के लिए ठोस आधार सिद्ध होती हैं। प्रारम्भ में इन ग़ज़लों की विषय-वस्तु में प्रेम एवं शृंगारिक भावों का आधिक्य है, किन्तु सन् १९७१ के बाद हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ग़ज़लें संख्या, कथ्य-वैभिन्य के लिहाज से हिन्दी कविता में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज़ कराती हैं। 'सारिका', 'आजकल', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'

आदि में ग़ज़लें पर्याप्त मात्रा में छपीं।

यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इन ग़ज़लकारों में वे लोग भी शामिल हैं, जो हिन्दी के गीत और नवगीत आन्दोलन की उपज थे। इनमें सूर्यभानु गुप्त, चन्द्रसेन विराट, रामावतार चेतन, माहेश्वर तिवारी, कुँवर बेचैन, गोपीवल्लभ सहाय, जानकी वल्लभ शास्त्री, सोम ठाकुर, रामकुमार कृषक, नीरज, शेरजंग गर्ग आदि प्रमुख हैं। इन्होंने गीत-नवगीत की चुकती जा रही अभिव्यक्ति-क्षमता तथा जटिल बिम्ब एवं प्रतीक-योजना से ऊबकर ग़ज़ल का दामन थामा था। इस प्रकार, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़ल के पहले सोपान पर प्राय: वे ही ग़ज़लकार हैं, जिन्होंने हिन्दी-नवगीत के संस्कार, भाव, भाषा, शिल्प, बिम्ब, प्रतीक, मुहावरे और सौन्दर्य-बोध का ग़ज़ल-रचना में प्रमुख औज़ार के रूप में इस्तेमाल किया। इस चरण के हिन्दी-ग़ज़ल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं— जीवन-यथार्थ का चित्रण, सिद्धान्तहीन राजनीति का चित्रण, व्यंग्य, ग्रामीण जीवन का चित्रण, प्रचलित व्यवस्था पर आक्षेप, विद्रोह तथा प्रेम-सौन्दर्य का चित्रण।

उपर्युक्त रचनाकारों के अलावा इस चरण में सक्रिय हिन्दी-ग़ज़लकारों में गिरिधर गोपाल, उमाशंकर तिवारी, अल्हड़ बीकानेरी, जितेन्द्र वशिष्ठ, खुर्शीद सहर, रउफ परवेज, हंसराज रहबर, शिवओम अंबर, प्रभा ठाकुर, ओम प्रभाकर, इकबाल अंजुम, दुष्यंत कुमार, जहीर कुरेशी, बलबीर सिंह रंग, माणिक वर्मा, महेश अनघ, गिरिराजशरण अग्रवाल, गुलाब खण्डेलवाल, माधव मधुकर, विजय किशोर मानव, शशि तिवारी, शरद सिंह, शरला भटनागर, भवानी शंकर अश्क, राधेश्याम बन्धु, शमशेर बहादुर सिंह, वर्षा सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़ल के द्वितीय तथा तृतीय चरणों की काल-सीमाएं क्रमश: १९८१ से १९९० तथा १९९१ से अब तक निर्धारित की गई हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि द्वितीय चरण की काल-सीमा के अंतर्गत आने वाले अधिकांश ग़ज़लकार ही तृतीय चरण के भी ग़ज़लकार हैं। इनकी रचनात्मक सक्रियता दोनों ही कालों में समान रूप से व्याप्त है। दोनों ही चरणों के ग़ज़लकारों का सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्राय: समान है। इसके कारण भी स्पष्ट हैं। काल-विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का अंकन ही उसका साहित्य बनता है। यदि ये परिस्थितियाँ अल्पकाल के ही अंतराल में जल्दी-जल्दी परिवर्तित होती हैं, तो उस समय की रचनात्मक प्रवृतियों में भी उसी अनुपात में जल्दी-जल्दी परिवर्तन आता है। इसके ठीक विपरीत, यदि प्रवृत्तियाँ लम्बे अन्तराल में परिवर्तित होती हैं अथवा, यथावत, बनी रहती हैं, तो रचनाकार के लिए किसी नये कथ्य की सम्भावनाएँ भी क्षीण रहती हैं। इसीलिए वह अपने लेखन की दिशा में भी कोई विशेष परिवर्तन लाने की स्थिति में नहीं रहता।

परिवर्तन के प्रति लेखक या रचनाकार का दृष्टिकोण भी उसकी रचना-प्रवृत्तियों को निर्धारित करता है। यह दृष्टिकोण भी दो प्रकार का होता है— आस्थावादी। यदि समाज, राजनीति, अर्थ संस्कृति के क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों के प्रति लेखक की आस्था है, तो

उसके लेखन की दशा-दिशा में कोई विशेष या बड़ा बदलाव होने की सम्भावना नहीं रहेगी। ऐसे में इन परिवर्तनों के समानान्तर प्रवाहित उसकी चिन्तनधारा में स्वाभाविक है कि कोई मोड़ न आये और यथास्थिति बनी रहे। किन्तु, यदि इन परिवर्तनों के प्रति उसका दृष्टिकोण अनास्थावादी है, तो प्रतिक्रियास्वरूप उसके भीतर असंतोष और विद्रोह पनपेंगे। और, ये ही उसके चिन्तन को नया मोड़ देते हैं, जिससे लेखन की प्रवृत्तियों तथा दशा-दिशा में बदलाव आता है। इस परिप्रेक्ष्य में देखें, तो द्वितीय और तृतीय चरणों की लगभग पचीस वर्षों की कालावधि में उपर्युक्त क्षेत्रों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए, जिससे इन चरणों की ग़ज़लों की प्रवृत्तियाँ एवं दशा-दिशा एक समान बनी रही। इनमें से कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. मध्यवर्गीय निराशा-बोध की अभिव्यक्ति,
2. सर्वहारा वर्ग की त्रासदी एवं जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति,
3. व्यवस्था-विरोध एवं परिवर्तन की कामना,
4. व्यंग्य की प्रवृत्ति,
5. टूटती परम्पराओं तथा स्खलित मानवीय मूल्यों के प्रति क्षोभ की अभिव्यक्ति,
6. राजनीतिक विकृतियों का अंकन,
7. साम्प्रदायिकता का विरोध और
8. महानगरीय जीवन की यांत्रिकता व त्रासदी का अंकन।

दोनों चरणों की काल-सीमा में रचनारत ग़ज़लकारों में अदम गोंडवी, रामकुमार कृषक, जहीर कुरेशी, चंद्रसेन विराट, पुरुषोत्तम प्रतीक, ज्ञानप्रकाश विवेक, विनोद तिवारी, रऊफ परवेज, निदा फ़ाजली, अनिरूद्ध सिन्हा, छन्दराज, नचिकेता, ध्रुवगुप्त, आसिफ रोहतासवी, रामदरश मिश्र, हस्तीमल 'हस्ती', मधुर नज्मी, वेदप्रकाश अमिताभ, रोहिताश्व अस्थाना, शेरजंग गर्ग, गिरिराज शरण अग्रवाल, अशोक अंजुम, कुंवर बेचैन, सुरेन्द्र चतुर्वेदी, ज्ञानेन्द्र, बल्लीसिंह चीमा, प्रतीक मिश्र, ओंकार गुलशन, उर्मिलेश, नित्यानंद तुषार, विभांशु दिव्याल, एहतराम इस्लाम, अश्वघोष, पुरुषोत्तम यकीन, शिवओम अंबर, नूर मुहम्मदर 'नूर', देवेन्द्र मांझी, माधव कैशिश, दिनेश दधीचि, सत्यपाल सक्सेना, अंसार कंबरी, भवानी शंकर, कमलेश भट्ट 'कमल', शिवशंकर मिश्र आदि महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दी-ग़ज़ल क शिल्प-विधान उर्दू-फारसी ग़ज़लों के पारंपरिक स्वरूप के काफी समान होते हुए भी थोड़ा भिन्न है। अपने मूल प्रेरक उर्दू ग़ज़ल के शिल्पगत ढाँचे और अनुशासन को इसने अपनी जरूरतों के मुताबिक छोड़ने, तोड़ने, और सँवारने की प्रवृत्ति अपनाई है। काफिया की योजना में स्वर को महत्व दिया गया है, व्यंजन को नहीं। यह प्रवृत्ति काफी कुछ उर्दू ग़ज़लों से मिलती-जुलती है, जहाँ उच्चारण के अनुसार मात्राओं को घटाने अथवा बढ़ाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। लेकिन, नचिकेता के अनुसार, "ऊपरी ढाँचा और रचना-उपकरण में उर्दू ग़ज़ल का मोहताज होने के बावजूद हिन्दी-ग़ज़ल का छंद-विधान थोड़ा अलहदा है। उर्दू में बहर या वज़न मल्फूजी (उच्चारित) शब्दों पर आधारित होता है, मक्तूबी

(लिखित) शब्दों पर नहीं। चुनांचे उर्दू पिंगल में उच्चरित शब्दों की संरचना में कोई फ़र्क नहीं होता। यानी जो बोला जाता है, वही लिखा भी जाता है। उर्दू ग़ज़ल की बहरें संस्कृत के दशाक्षरी की भाँति दस अर्कानों पर निर्भर छन्द हैं, जिसमें वर्ण-योजना और बलाघात पर विशेष बल होता है। किन्तु, हिन्दी-ग़ज़ल की छन्द-योजना में मात्रिक छन्द का आश्रय ग्रहण किया जाता है, स्वरों की मात्रा, स्वराघात और बलाघात की निर्णायक भूमिका होती है।''

कुछ लोगों का यह भी मानना है कि हिन्दी-ग़ज़लें हिन्दी के पारंपरिक छन्दों में ही कही जानी चाहिए। वहीं कुछ लोगों का यह भी मानना है कि उर्दू-फरासी की पारंपरिक बहरों में ही कुछ परिवर्तन करके हिन्दी में स्वतंत्र बहरों का आविष्कार किया जाना चाहिए। चिरंजीत के विचार में, ''यह आवश्यक है कि हिन्दी-ग़ज़ल हिन्दी के मात्रिक छन्दों पर आधारित हो.......... हिंन्दीवालों को उर्दू-फारसी ग़ज़ल का केवल रूपाकार इस्तेमाल करना चाहिए, उसका भाषाई रूप, काव्यशास्त्र अथवा छन्द नहीं।''

यहाँ भाषाई रूप व्याकरण को न मानने की बात तो समझ में आती है, लेकिन यदि छंद अथवा बहर को न स्वीकार किया जाय, तो फिर रचना-विशेष को 'ग़ज़ल' ही क्यों नाम दिया जाय? फिर भी, यदि आप ग़ज़ल कहना ही चाहते हैं, तो इसके फार्म, काव्यशास्त्र और शिल्परुचि को अस्वीकार करने का तुक समझ में तो नहीं आता। केवल 'स्थापना' के लोभ में कुछ भी कह देने की बात ही कुछ और है। स्पष्ट मान्यता तो यह होनी चाहिए कि हिन्दी-ग़ज़ल में भी 'ग़ज़ल' के परम्परागत शिल्प की शास्त्रीयता का पूर्णत: अनुपालन तो होना ही चाहिए, क्योंकि कुल मिलाकर यह अन्तत: एक फार्म ही तो है!

जाने-माने हिन्दी ग़ज़लकार महेश अनघ ने मात्रा-निर्वाह, काफिया-मिलान, प्रतीक-योजना, प्रवाह और वस्तु-निर्वाह को हिन्दी-ग़ज़ल की अनिवार्य शर्त माना है। वहीं दूसरी ओर, उन्होंने ग़ज़ल की भावगत स्वतंत्रता, मक़ता और मतला का प्रयोग, रूमानी कथ्य, सीमित बहर और गेयता-जैसे कारकों को निषेध के रूप में स्वीकार किया है।

वस्तुत:, ग़ज़ल की कला संकेतों, उपमाओं और प्रतीकों के प्रयोग की कला है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़ल ने उर्दू फारसी ग़ज़लों के पारंपरिक प्रतीकों, मुहावरों आदि को छोड़कर अपने स्वतंत्र प्रतीक, बिम्ब और मुहावरे की तलाश की है। दुष्यंत कुमार पहले ग़ज़लकार हैं, जिन्होंने हिन्दी-नवगीत और 'नयी कविता के उपकरणों-बिम्ब, प्रतीक, मुहावरों, जीवन-दृष्टि, उपमा-उपमान और संवेदना का उपयोग करके हिन्दी-ग़ज़ल की नयी ज़मीन उद्घाटित की और उसका नया सौन्दर्यशास्त्र गढ़ा। उनके समकालीन और परवर्ती ग़ज़लकारों ने भी इन्हीं उपकरणों के आकर्षक प्रयोगों द्वारा शेरों के कथ्य को आश्चर्यजनक अर्थ-विस्तार दिये हैं। उम्दा ग़ज़ल के शेरों में प्रयुक्त शब्द अपने अर्थों में शाब्दिक न होकर प्रतीकात्मक होते हैं। अदम गोंडवी, निदा फ़ाजली, रामावतार चेतन, ज्ञान प्रकाश विवेक, ज़हीर कुरेशी, चंद्रसेन विराट आदि की ग़ज़लों में बिम्बों और प्रतीकों की नवीन सृष्टि और प्रयोग देखे जा सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़लों में मिथकों के भी भरपूर प्रयोग हुए हैं। ऊर्मिला, लक्ष्मण, धृतराष्ट्र, अहल्या, राम आदि ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रों के मिथकों ने वर्तमान राजनीति, धर्म, समाज तथा व्यवस्था की विस्तृत व्याख्या तो की ही है, नवीन सन्दर्भों के चित्रण के लिए चमत्कार अर्थोत्पादक भी सिद्ध हुए हैं।

भाषा के धरातल पर हिन्दी-उर्दू का वंशानुगत रक्त-सम्बन्ध स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़लों में न केवल कायम रहा, अपितु और भी अधिक प्रगाढ़ होता गया है। हिन्दी और उर्दू की काव्य-भाषा, बुनावट और संवेदना में इतनी समानता है कि इन्हें विलगाकर देखना-परखना बहुत कठिन है। हिन्दी-कविता में ग़ज़ल अपने साथ अपनी भाषा भी लेकर आयी है। हिन्दी में उर्दू के प्रवेश के मूल में दो संस्कृतियों के आपस में समन्वित हो जाने की लम्बी कथा है। हिन्दी-ग़ज़लों में उर्दू-फारसी शब्दों के प्रयोग में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि वे सामान्य बोलचाल के साथ ही हिन्दी की प्रकृति के निकट हों। इनमें रोजमर्रे और बोलचाल के तौर पर प्रयुक्त होने वाले शब्दों का आधिक्य है। आम आदमी द्वारा बोली-समझी जाने वाली हिन्दी-उर्दू भाषाओं का सम्मिलित रूप ही स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-ग़ज़लों की आदर्श भाषा बन गई है। इसके सबसे बड़े पैरोकार दुष्यंत रहे हैं— "उर्दू और हिन्दी अपने-अपने सिंहासन से उतरकर जब आम आदमी के पास आती हैं, तो उनमें फ़र्म कर पाना बड़ा मुश्किल होता है।........ ये ग़ज़लें उस भाषा में कही हैं, जिसे मैं बोलता हूँ"। इनके बहुत पहले 'निराला' जी भी 'बेला' की भूमिका में लिखते हैं— "पुरानी ग़ज़लें घोलकर पी जाने से हिन्दी वालों की भाषा चमक उठेगी।" यहाँ 'पुरानी ग़ज़लें' उर्दू-फारसी ग़ज़लों को ही संकेतित करता है। जहाँ कहीं संस्कृतनिष्ठ तत्समशब्दबहुल तथाकथित 'शुद्ध हिन्दी ग़ज़ल' कहने की चेष्टा हुई है, वहाँ शेरों का स्वाभाविक प्रवाह बाधित हुआ है। ग़ज़ल अत्यन्त नाजुक स्वभाव वाली काव्य-विद्या है, इसलिए इसकी भाषा का भी इसकी प्रकृति के ही अनुरूप होना उचित है। अन्य भाषाओं के चालू शब्दों के अतिरिक्त लोक-भाषाओं और बोलियों के शब्द भी स्वाभाविक रूप में हिन्दी-ग़ज़ल में प्रयुक्त हो रहे हैं। इससे कथ्य की स्वाभाविकता तो बनी ही है, यह जीवन के बहुत निकट भी आयी है। दुष्यंत, ज़हीर कुरेशी, अदम गोंडवी, निदा फाजली आदि के साथ अधिकाशं ग़ज़लकारों ने आम फ़हम की इसी भाषा को अपनाया है।

—

प्रेमचंद का समाजवाद

—कमल किशोर गोयनका

प्रेमचंद के मार्क्सवाद और कम्यूनिस्ट आन्दोलन के विचार-दर्शन को लेकर पिछले कई दशकों से हिन्दी में आलोचना, चर्चा और विवेचन होता रहा है, लेकिन यह विवेचन प्राय: हिन्दी के कम्यूनिस्ट आलोचकों, लेखकों एवं कम्यूनिस्ट नेताओं की ओर से ही हुआ है। स्वाभाविक था, कम्यूनिस्ट लेखकों ने इस चर्चा-विवेचन का उपयोग उन्हें मार्क्सवादी लेखक सिद्ध करके किया। इसके लिए उन्हें यह भी लिखना पड़ा कि अपने अन्तिम वर्षों में प्रेमचंद का गांधीवाद से मोह-भंग हो गया था और इसके बाद वे मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हो गये थे। इस व्याख्या से प्रेमचंद का हित तो नहीं हुआ, लेकिन हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक और लेखक कई दशकों तक हिन्दी साहित्य के रंगमंच पर मज़बूती के साथ बैठकर प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ आदि राजनीतिक संघों को पूरे देश में फैलाने में सफल हुए तथा इस बात को भी हिन्दी साहित्य के प्रेमियों के मन में स्थापित करने में लगभग सफल हुए कि प्रेमचंद मार्क्सवादी लेखक बन गये थे। इस प्रतिपादन के बावजूद हिन्दी के प्राय: सभी मार्क्सवादी आलोचक और लेखक यह मानते हैं कि प्रेमचंद ने मार्क्सवाद का अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं किया था और वे उससे पूर्णत: अवगत नहीं थे। डॉ० राम विलास शर्मा ने सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद' में लिखा था, "उनकी कृतियों से यह नहीं जान पड़ता कि उन्होंने समाजवाद का शास्त्रवत् अध्ययन किया था या समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार रचे गये साहित्य के अनुसार अपना साहित्य भी गढ़ने की चेष्टा की थी।"[१] यही बात लगभग ४० वर्ष के बाद मार्क्सवादी आलोचक डॉ० शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : विरासत का सवाल' में लिखी है। वे लिखते हैं कि मार्क्स का नाम प्रेमचंद ने कहीं नहीं लिया है, मार्क्सवादी दर्शन का ज़िक्र भी उन्होंने नहीं किया है, कदाचित् मार्क्सवादी दर्शन को उसके सुसंगत रूप में जानने का सुयोग उस युग के दूसरे तमाम बुद्धिजीवियों की भाँति उन्हें भी नहीं मिला था।[२]

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों के ये निष्कर्ष उपलब्ध तथ्यों के विपरीत हैं। प्रेमचंद ने 'मार्क्स' का उल्लेख अपने लेख 'इस्लामी सभ्यता'[३] में करते हुए लिखा है कि कार्ल मार्क्स और रूसो को जिन सिद्धान्तों का श्रेय दिया जा रहा है, वास्तव में उनका जन्मदाता अरब के मरुस्थल का उम्मी मुहम्मद था जिसने इस्लाम धर्म को जन्म दिया। प्रेमचंद के इस कथन से हमारे कम्यूनिस्ट लेखक सम्भवत: सहमत नहीं होंगे लेकिन इस प्रमाण को वे अस्वीकार नहीं कर सकते कि सन् १९२५ में वे 'कार्ल मार्क्स' का उल्लेख कर रहे थे और वे उसके सिद्धान्तों से परिचित थे। वे ज़ार, मुसोलिनी, हिटलर, स्टालिन, लेनिन, चर्चिल, आदि की चर्चा 'जागरण' और 'हंस' में लिखी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में बार-बार करते हैं तथा कुछ स्थानों पर तो वे मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग भी करते रहे हैं। उनके पत्रों एवं लेखों में 'बोल्शेविस्ट उसूल' (पत्र, २१ दिसम्बर, १९१९), 'रक्तमय

अशान्ति' ('मर्यादा', बैशाख, सम्वत् १९७९), 'क्रान्ति' ('हंस', जून, १९३१), 'रूस धर्म को अफ़ीम का नशा कहता है' ('हंस', अक्टू०-नव०, १९३२), 'शान्तिमय क्रान्ति' ('हंस', अक्टू०-नव०, १९३२), 'जार-सत्ता' ('जागरण', २० फरवरी, १९३३), 'वर्गवाद' (जागरण', १७ अप्रैल, १९३३), 'कम्यूनिज़्म और फासिज़्म' ('जागरण', २१ अगस्त, १९३३), 'सोशलिज़्म' ('जागरण' ९ अक्टूबर, १९३३), 'वर्ग संग्राम का भीषण रूप' ('जागरण', १० अप्रैल, १९३३), 'समाजवादी डिक्टेटरशिप' ('जागरण' १५ जनवरी,१९३४) 'सर्वहारा वर्ग' (पत्र, इन्द्रनाथ मदान को, २६ दिसम्बर, १९३४), आदि शब्दों एवं वाक्यों का यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है जिससे स्पष्ट है कि वे मार्क्सवाद तथा रूस में हुई बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्णतः अवगत थे। प्रेमचंद के कुछ लेख भी रूस की स्थिति, साम्यवाद और महाजनी सभ्यता आदि के युगीन सन्दर्भों पर आधारित हैं। ये लेख हैं— 'पुराना ज़माना : नया ज़माना' ('ज़माना' उर्दू पत्रिका, फरवरी, १९१९), 'रूस और जर्मनी की सन्धि' ('मर्यादा', अप्रैल, १९२२), 'रूस का भाग्य-विधाता' ('जागरण', ३१ अक्टू०, १९३२), 'सोवियत रूस की उन्नति' ('जागरण', २८ नवम्बर, १९३२) 'रूसी साहित्य और हिन्दी' ('हंस', मई, १९३३), 'भारत १९८३ में' ('जागरण' २१ अगस्त, १९३३), 'भावी महासमर' ('जागरण', २२ मई, १९३३), 'रूस में समाचार-पत्रों की उन्नति' ('जागरण', २१ अगस्त, १९३३), 'काँग्रेस और सोशलिज़्म' ('जागरण', ९ अक्टू०, १९३३), 'श्री जवाहरलाल नेहरू का व्याख्यान' ('जागरण', २० नव०, १९३३), 'समाजवाद का आतंक' ('जागरण', १५ जनवरी, १९३४), 'रूस और जापान में तनाव' ('जागरण', फरवरी, १९३४), 'रूस का नैतिक उत्थान' ('जागरण', २६ फरवरी, १९३४), 'रूस में धर्मविरोधी आन्दोलन' ('जागरण', १९ मार्च, १९३४), 'रूस में पूँजीवाद', (जागरण', २३ अप्रैल, १९३४), 'रूसी कहानियाँ' ('हंस', मार्च, १९३५), 'साम्यवाद का बिगुल' ('हंस', जून, १९३६), 'महाजनी सभ्यता' ('हंस', सित०, १९३६) आदि।

ये सभी सन्दर्भ, लेखादि इसके प्रमाण हैं कि प्रेमचंद कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद, लेनिन की बोल्शेविक खूनी क्रान्ति, ज़ार की सत्ता और कम्यूनिस्ट सत्ता तथा उसके क्रिया— कलापों एवं विचार-दर्शन से पूर्णतः परिचित थे। वे अपने समय के सबसे अधिक अध्ययनशील हिन्दी लेखक थे। उन्होंने अँग्रेजी भाषा के माध्यम से योरप, रूस आदि का साहित्य पढ़ा था और ज्ञान-विज्ञान तथा विश्व-राजनीति के सम्बन्ध में जो पुस्तकें भारत में आ रही थीं, वे उनसे सीधे सम्पर्क में थे। इसके भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि उन्होंने समाजवाद पर कई पुस्तकें पढ़ी थीं तथा उस समय के प्रतिष्ठित समाजवादियों सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव आदि से उनके गहरे सम्बन्ध थे। वैसे भी, रूस की खूनी क्रान्ति (सन् १९१७) से काफी पहले 'समाजवाद' की चर्चा सारे विश्व में आरम्भ हो चुकी थी। यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द भी इससे अछूते नहीं रहे। विवेकानन्द जब इंग्लैण्ड में थे तब अनेक समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी नेता उनसे मिलने आये थे[४] और उन्होंने 'समाजवाद' की आवश्यकता पर लंदन में सन् १८९६ में कहा था, "यहाँ इंग्लैण्ड में यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद अथवा

जनता द्वारा शासन-सा कोई स्वरूप, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, उभरता आ रहा है। लोग निश्चय ही यह चाहेंगे कि उनकी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति हो, वे कम काम करें, उनका शोषण न हो, युद्ध न हो और भोजन आदि मिले।'[५] विवेकानन्द ने समाजवाद की परिभाषा देते हुए कहा कि जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता है और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।[६] वे अपने व्याख्यानों में भारत के 'सामाजिक साम्यवाद' की चर्चा करते हैं और 'सार्वभौम साम्यवाद' की भी, परन्तु उनका दृढ़ मत है कि साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार आध्यात्मिक ही होना चाहिए।[७] उनका मत था कि कोई भी समाजवादी सभ्यता, जो धर्म पर अथवा मनुष्य के भीतर के शुभ पर आधारित न हो, स्थायी नहीं हो सकती, लेकिन धर्म इस समस्या की जड़ तक पहुँच सकता है।[८]

महात्मा गांधी भी अपने समय में समाजवाद और साम्यवाद पर विचार करने से बच नहीं पाये। समाजवाद उस काल खण्ड में स्वराज्य और स्वाधीनता के साथ महत्त्वपूर्ण विषय था जिसके कारण साधारण जनता को न्यायपूर्ण समानता और शोषण मुक्त व्यवस्था मिलने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी थी। अत: महात्मा गांधी को भी समाजवाद और साम्यवाद पर विचार करना आवश्यक था। गांधी 'समाजवाद' को मानते हैं और उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि समाजवाद का यह अर्थ है कि लोग स्वावलम्बी बनें। ऐसा होने पर ही उनका लूटा जाना बन्द हो सकेगा।[९] उनका मत है कि 'ईशोपनिषद्' के पहले मन्त्र में ही समाजवाद ही नहीं साम्यवाद विद्यमान है।[१०] इसीलिए वे 'पाश्चात्य समाजवाद या साम्यवाद' को उचित नहीं मानते क्योंकि उसमें हिंसा का रंग चढ़ा हुआ है।[११] वे समाजवाद को स्पष्ट करते हैं और कहते हैं कि कारखानों का या तो राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय या उन्हें राज्य के स्वामित्व में रखा जाये। वे मानव-हित के लिए चलाये जायें लोभ के लिए नहीं, तथा धन की आपा-धापी बन्द हो एवं मजदूरों का जीवन सुधरे।[१२] लेकिन गांधी रूसी ढंग के समाजवाद को स्वीकार नहीं करते। वे स्पष्ट कहते हैं कि रूसी ढंग का जबरदस्ती थोपा गया समाजवाद भारत को कभी स्वीकार नहीं होगा। मैं 'अहिंसक साम्यवाद' में आस्था रखता हूँ।[१३] गांधी के विचार में 'अहिंसा' और 'रचनात्मक कार्यक्रम' उसके मूल में हैं। गांधी 'शोषण' के विरुद्ध हैं[१४] तथा 'वर्ग-युद्ध' के विरोधी हैं,[१५] पूँजीपति एवं मज़दूर दोनों को चाहते हैं,[१६] स्वराज्य के लिए 'आर्थिक स्वतन्त्रता' चाहते हैं[१७] और कहते हैं कि साम्यवादी दल के अस्तित्व में आने से पहले ही कांग्रेस श्रमिकों और कृषकों के लिए स्वराज्य की कल्पना कर चुकी थी।[१८] फिर भी वे मानते हैं कि कम्यूनिस्टों से उनका झगड़ा नहीं है, मतभेद है।[१९] वे कई बार समाजवादियों से अपने अन्तर को स्पष्ट करते हैं। गांधी मानते हैं कि सब सम्पत्ति प्रजा की है— 'सबै भूमि गोपाल की', लेकिन समाजवादियों के घृणा और हिंसा से राज-सत्ता पर नियन्त्रण तथा समानता को बलपूर्वक लागू करने के वे समर्थक नहीं हैं।[२०] वे कहते हैं कि आप देश को अपने विचारों का अनुगामी बनाने के लिए हिंसा का पथ ग्रहण कर सकते हैं परन्तु आप कितने लोगों को मारेंगे? करोड़ों का विनाश तो

नहीं कर सकते जबकि आज आप मुट्ठी-भर से अधिक नहीं हैं।[२१] वे स्पष्ट देखते हैं और कहते हैं कि समाजवादी और साम्यवादी अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का अपने जीवन में आचरण नहीं करते। आप साम्यवादी होने का दावा करते हैं, परन्तु साम्यवादी जीवन व्यतीत करते दिखायी नहीं देते। गांधी कहते हैं कि यदि साम्यवाद में हमारी श्रद्धा है, तो हम कम-से-कम अपनी निजी जायदाद तो समाज को अर्पण कर दें। एक भी कौड़ी जब तक कोई रखेगा, तब तक वह समाजवादी नहीं है।[२२] गांधी आचरण पर बल देते हैं और उसे अहिंसा का मार्ग कहते हैं। इस कारण वे स्वयं को 'सबसे बड़ा कम्यूनिस्ट'[२३] होने का दावा करते हैं। वे इसी आधार पर जवाहरलाल नेहरू के समाजवाद से स्वयं को थोड़ा अलग मानते हैं। नेहरू परिणाम पर ज़ोर देते हैं और अहिंसा के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी समाजवाद लाना चाहते हैं, परन्तु गांधी अहिंसा के सिद्धान्त से टस-से-मस नहीं होते।[२४] गांधी मानते हैं कि उनका जो भारतीय समाजवाद है, वह एक दिवा-स्वप्न है, वैसे ही जैसे समाजवादियों का एक नयी व्यवस्था के बनाने का है, लेकिन वे भी एक नये ढंग की व्यवस्था बनाना चाहते हैं जो विश्व को अचम्भे में डाल देगी।[२५] उनका समाजवाद या साम्यवाद अहिंसा तथा श्रम व पूँजी और जमींदार व रैयत के सामंजस्यपूर्ण सहयोग पर आधारित है।[२६] गांधी इसकी सम्भावना स्वतन्त्र भारत में देखते हैं और मानते हैं कि तब अमीरों और गरीबों के पास बराबर की सत्ता होगी, लेकिन यदि स्वेच्छा से सम्पत्ति का त्याग नहीं किया जाता और जो सत्ता सम्पत्ति से प्राप्त होती है, उसे खुशी-खुशी नहीं छोड़ा जाता तथा सम्पत्ति का उपयोग मिल-जुलकर, सब की भलाई के लिए नहीं किया जाता तो निश्चय ही इस देश में खूनी क्रान्ति आयेगी।[२७]

प्रेमचंद समाजवाद को लेकर विवेकानन्द, गांधी, बोल्शेविक क्रान्ति तथा अपने युग की आवश्यकताओं से प्रभावित थे और वे समाजवाद का अपना दर्शन विकसित कर रहे थे। भारत में उस समय स्वराज्य की लड़ाई शुरू हो चुकी थी। इस लड़ाई का आधार विदेशी दासता से मुक्ति का संकल्प तो था ही, साथ ही समता एवं न्याय पर आधारित समाज की रचना का स्वप्न भी जुड़ा हुआ था। इस प्रकार समाजवाद भी उस युग की प्रमुख माँग थी। इसी कारण बोल्शेविक क्रान्ति और गांधी के आविर्भाव से पहले ही प्रेमचंद की दिशा शोषण-मुक्त समाज के निर्माण की थी। उनके इस चिन्तन को विवेकानन्द, गांधी और मार्क्स के अनुयायियों ने दृढ़ आधार दे दिया और वे अपने लेखों के साथ अपने उपन्यासों एवं कहानियों में अपने समाजवादी दर्शन को रूप देते रहे। उनके लेखों में समाजवाद का चिन्तन पक्ष तथा सर्जनात्मक कृतियों में भारतीय समाजवाद तथा भारतीय समाजवादियों व कम्यूनिस्टों के चरित्र का उद्घाटन किया गया है। प्रेमचंद ने समाजवाद की परिभाषा में कहा है कि समाजवाद यही तो कहता है कि मनुष्य मात्र को समान भाव से शिक्षित होने और काम करने का अवसर दिया जाय, सभी काम बराबर समझें जाँय, सभी समान रूप से प्रेम और शान्ति के साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। इससे ऊँचा और पवित्र मानव संस्कृति का उद्देश्य और क्या हो सकता है।[२८] उन्होंने एक अन्य स्थान पर लिखा कि आज

राज्य का आधार स्तम्भ है—समता। उसका अर्थ है, प्रजातन्त्र के लिए समान अवसर, समान सुविधा और समान सत्ता की व्यवस्था करना, और जो राज्य इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह वहुत दिन टिक नहीं सकता।[२९] प्रेमचंद मानते हैं कि वीसवीं सदी सोशलिज़्म की सदी है जो सम्भव है आगे चलकर कम्यूनिज़्म का रूप धारण कर ले। भारत-जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है, जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मजूर हैं सोशलिज़्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है।[३०] इस दृष्टि से विवेकानन्द, गांधी और प्रेमचंद एक ही लक्ष्य के पथिक बन जाते हैं।

प्रेमचंद के समाजवादी दर्शन में हमें वे मुसोलिनी, हिटलर, स्टालिन-जैसे तानाशाहों का समर्थन करते हुए मिलते हैं। वे कहते हैं कि मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन राष्ट्र के सच्चे सेवक हैं और यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। राष्ट्र उनकी सम्पत्ति नहीं है और न राष्ट्र का धन उनके भोग के लिए है। इनकी डिक्टेटरशिप चंद रोज़ा है, या स्थायी, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस वक़् वे डिमाक्रेसी से कहीं उपयोग हो रही है।[३१] वे इसे 'समाजवाद का आतंक' भी कहते हैं तथा यह मानने लगते हैं कि यह डिक्टेटरशिप का युग है।[३२] एक स्थान पर प्रेमचंद मानते हैं कि सोवियत का आदर्श कम्यूनिस्ट पार्टी या डिक्टेटरशिप नहीं है। यह अस्थायी है। उसका आदर्श एक ऐसा साम्यवाद है जिसमें आदमी स्वार्थ से नहीं, केवल समाज के हित के लिए बगैर किसी दवाब के जियेगा और मरेगा, जब सभी मनुष्य होंगे, ऊँच-नीच या शासक और शासित का भेद-भाव मिट जायगा।[३३]

प्रेमचंद के डिक्टेटरशिप का यह समर्थन स्थायी न रह सका। मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन के शासन-तन्त्र में वे जो प्रजा का हित देख रहे थे, वे उनके जीवन-काल में ही धराशायी हो गया। यदि वे जीवित रहते और दूसरा विश्व-युद्ध देखते तो उन्हें अवश्य ही वे मानव के भयंकर शत्रु के रूप में पहचानते 'हिटलर की तानाशाही' शीर्षक से तों उन्होंने 'हंस' के मई, १९३४ के अंक में सम्पादकीय लिखा और उसके अत्याचारों पर टिप्पणी की। रूस के स्टालिन के बारे में उन्होंने 'हंस' के मई, १९३३ के अंक में लिखा कि रूस का साम्राज्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है[३४] लेकिन अपने इस मत का स्वयं खण्डन करते हुए २२ मई, १९३३ को अर्थात् उसी महीने 'जागरण' में 'भावी महासमर' सम्पादकीय में उन्होंने लिखा कि साम्राज्य-विरोधी रूस भी चाहता है कि ज़माना सोवियत हो जाय। उसे विचार का साम्राज्य चाहिए। इसी प्रकार वे लेनिन और स्टालिन के रूस के बारे में समझते थे कि वहाँ पूँजीवाद समाप्त हो गया है, परन्तु २३ अप्रैल, १९३४ की उनक़ी टिप्पणी में यह स्वीकार किया कि वे भ्रम में थे। उन्होंने लिखा, ''हम समझ रहे थे कि कम-से-कम एक ऐसा देश है, जिसने पूँजीवाद पर विजय पायी है और अपने देश में एक नयी समाज व्यवस्था कायम कर दी है, लेकिन मालूम होता है कि हम भ्रम में थे।''[३५] अपने सन् १९२१ में लिखे लेख 'स्वराज्य के फ़ायदे' में उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि बोल्शेविज़्म का कोई सुधरा रूप आगे बच रहेगा, लेकिन वे अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में देख रहे थे कि रूस का स्टालिन और उसकी कम्यनिस्ट व्यवस्था हिटलर की तरह

ही व्यवहार कर रही थी। वे जिस 'फ़ासिज़्म और नाज़िज़्म' को समाजवाद के रूप समझ रहे थे, वे उनके समय में ही अपना असली चेहरा दिखाने लगे थे और इस तरह उनके भ्रम टूट रहे थे। वे समझ रहे थे कि 'कम्यूनिज़्म और फासिज़्म जिस रूप में विकसित हो रहा है, उससे वे प्रजा-हित के अपने उद्देश्य से भटक जायेंगे और तब उनकी सत्ता भी समाप्त हो जायेगी। उन्होंने रूस में कम्यूनिस्ट शासन के समाप्त होने की भविष्यवाणी करते हुए 'जागरण', २१ अगस्त, १९३३ को लिखा, "कम्यूनिज़्म और फासिज्म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजा-हित को ही अपना आधार बनाये हुए हैं। ज्यों ही वे इस आदर्श से गिर जायेंगे, जनता फिर चंचल हो जायगी और फिर किसी दूसरी तरह इस समस्या को हल करने की चेष्टा करेगी।"[३६] बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में रूस में कम्यूनिस्ट शासन के पतन की घटना को देखने हुए उनकी भविष्य-दृष्टि की प्रशंसा करनी पड़ेगी। वे देख रहे थे कि राजनीति के नये सिद्धान्तों पर चलकर विश्व में नये राष्ट्र बन रहे थे तथा वे बलवान और संगठित भी हो रहे थे, किन्तु उन्हें सन्देह था कि इससे संसार में सुख और शान्ति में वृद्धि होगी।[३७]

प्रेमचंद के समाजवाद-दर्शन पर विवेकानन्द और गांधी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। वे एक स्थान पर तो विवेकानन्द की ही शब्दाबली में समाजवाद का सम्बन्ध वेदान्त के एकात्मवाद से जोड़ते हुए लिखते हैं, "यहाँ तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही समाजवाद के लिए मैदान साफ़ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का भेद क्यों?"[३८] प्रेमचंद विवेकानन्द और गांधी के इस विचार से सहमत हैं कि योरप के समाजवाद के स्थान पर भारतीय समाजवाद हो, जिस पर 'भारतीयता' की छाप हो, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हों, नीति और धर्म प्रधान हों।[३९] विवेकानन्द और गांधी का दर्शन भी 'नीति और धर्म' पर ही स्थित है। इसी कारण प्रेमचंद अपने समाजवादी दर्शन में मार्क्स और लेनिन की हिंसक क्रान्ति, वर्ग-संघर्ष, भूमि पर राज्य का अधिकार, मजदूरों की प्रमुखता और हड़ताल आदि को स्वीकार नहीं करते। प्रेमचंद 'हंस' के जून, १९३१ में लिखते हैं, "महात्मा गांधी क्रान्ति नहीं चाहते और न क्रान्ति से आज तक किसी जाति का उद्धार हुआ है। महात्मा गांधी ने हमें जो मार्ग बतलाया, उससे क्रान्ति की भीषणता के बिना ही क्रान्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।"[४०] वे सर्वत्र हिंसक क्रान्ति का विरोध करते हैं और 'द्वेषमय हिंसा' करना तथा उसकी सराहना करना दोनों को 'धर्म-विरुद्ध' मानते हैं।[४१] वे संघर्ष को पशुता का तथा सहयोग को मानवता का लक्षण मानते हैं[४२] और इसीलिए वे वर्ग-संघर्ष को स्वीकार नहीं करते। प्रेमचंद ने इन्द्रनाथ मदान को २६ दिसम्बर, १९३४ को पत्र में लिखा था कि मेरा आदर्श समाज वह है जिसमें सब को समान अवसर मिले। विकास को छोड़कर और किस जरीये से हम इस मंजिल पर पहुँच सकते हैं। लोगों का चरित्र ही निर्णायक तत्व है। कोई समाज-व्यवस्था नहीं पनप सकती जब तक कि हम व्यक्तिश: उन्नत न हों। कहना सन्देहास्पद है कि क्रान्ति से हम कहाँ पहुँचेंगे। यह

हो सकता है कि हम उसके जरीये और भी बुरी डिक्टेटरशिप पर पहुँचें जिसमें रंच मात्र व्यक्ति-स्वाधीनता न हो। मैं रंग-ढंग सब बदल देना चाहता हूँ पर ध्वंस नहीं चाहता।''[४३] इन विचारों के मूल में महात्मा गांधी की अहिंसा, सहयोग, हृदय-परिवर्तन, ट्रस्टीशिप, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि का सीधा प्रभाव है, बल्कि यह कहना उचित होगा कि गांधी के इन विचारों के कारण वे मार्क्सवाद का भारतीकरण कर पाये। प्रेमचंद इस प्रभाव के कारण महात्मा गांधी को सोशलिज़्म और कम्यूनिज़्म से भी आगे बढ़ा हुआ मानते थे क्योंकि वे उनके विचार में 'अपरिग्रहवादी' थे।[४४] गांधी स्वयं को कम्युनिस्ट कहते थे और प्रेमचंद ने भी एक बार स्वयं को कम्यूनिस्ट कहा था, परन्तु गांधी कार्लमार्क्स के अर्थ में स्वयं को कम्यूनिस्ट नहीं मानते थे, वैसे ही प्रेमचंद भी शास्त्रीय अर्थ में कम्यूनिस्ट या समाजवादी नहीं थे। प्रेमचंद ने एक इन्टरव्यू में कहा था, ''मैं कम्यूनिस्ट हूँ मगर मेरा कम्यूनिज़्म बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। × × × हमारे समाज में जमींदार, साहूकार, यह किसान का शोषण करने वाला समाज बिल्कुल रहेगा ही नहीं।''[४५] प्रेमचंद इस इन्टरव्यू में रूसी, इंग्लैण्ड तथा गांधी के कम्यूनिज़्म को स्वीकार न करके अपने कम्यूनिज़्म को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद मार्क्स की नकल नहीं करते, लेकिन शोषण से मुक्ति की उनकी नीति को स्वीकार करते हैं, परन्तु गांधी से अनेक विचारों को लेते हैं और अपना समाजवाद निर्मित करते हैं। वे कांग्रेस और गांधी के साथ हैं, क्योंकि समाजवाद उनका आदर्श है। वे जवाहरलाल नेहरू के भी समर्थक हैं, परन्तु वे गांधी और नेहरू में गांधी को सर्वोच्च मानते हैं, क्योंकि गांधी विचार और आचरण दोनों में समाजवादी हैं, जबकि प्रेमचंद के अनुसार नेहरू विचार से सोशलिस्ट हैं, व्यवहार से नहीं।[४६]

प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों में समाजवाद और साम्यवाद का एक दूसरा रूप मिलता है। उन्होंने अपने लेखों, पत्रों, इन्टरव्युओं आदि में समाजवाद का अपना सैद्धान्तिक रूप प्रस्तुत किया और उस युग के समाजवादी-दर्शन के गुणावगुणों के विवेचन के उपरान्त अपना भारतीय समाजवाद का रूप तैयार किया, लेकिन सर्जनात्मक साहित्य में उन्हें जीवन में आये समाजवादी सत्यों का उद्घाटन करना था। वे देख रहे थे कि जवाहरलाल नेहरू-जैसे सोशलिस्ट कांग्रेसी विचार से समाजवादी थे, व्यवहार में नहीं और महात्मा गांधी भी बार-बार कहते कि बलपूर्वक सभी को समान बनाने से अच्छा यह है कि हम स्वयं समानता के सिद्धान्तों का अपने आचरण में प्रयोग करें। हम अपनी निजी सम्पत्ति समाज को दान कर दें। भारत के साम्यवादी स्वयं को साम्यवादी कहते हैं पर साम्यवादी जीवन व्यतीत करते नहीं दिखायी देते क्योंकि वहाँ एक-एक के आचरण की कोई योजना नहीं है।[४७] प्रेमचंद की दृष्टि भी यही है। वे देखना चाहते हैं तथा पाठकों को दिखाना चाहते हैं कि जो लोग भारत में समाजवाद तथा साम्यवाद लाना चाहते हैं, वे स्वयं समाजवाद को कैसे जी रहे थे। स्वाभाविक था, इसके लिए चरित्रों का निर्माण करना था और यह उपन्यास, कहानी और नाटक में ही सम्भव था। सन् १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति और सन् १९१९ में 'बोल्शेविक उसूलों के कायल' होने का उल्लेख करने के बाद प्रेमचंद सन् १९२० से

सन् १९३६ तक की कहानियों और उपन्यासों में भारतीय कम्यूनिस्टों के चिन्तन और व्यवहार का बड़ी यथार्थता के साथ चित्रण करते रहे। उनकी ऐसी कहानियों में— 'पशु से मनुष्य' ('प्रभा', फरवरी, १९२०), 'ब्रह्म का स्वाँग' ('प्रभा', मई, १९२०), 'हार की जीत' ('मर्यादा', मई, १९२२), 'दो सखियाँ' (माधुरी', फरवरी-मई, १९२८), 'कैदी' ('हंस', जुलाई, १९३३) तथा 'पण्डित मोटेराम की डायरी' ('जागरण', जुलाई, १९३४) आदि उल्लेखनीय हैं तथा उपन्यासों में, जिनमें समाजवाद और भारतीय साम्यवादियों का चित्रण हुआ है, उनमें 'प्रेमाश्रम' (जनवरी, १९२२), रंगभूमि' (फरवरी, १९२५) तथा 'गोदान' (जून, १९३६) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रेमचंद ने सन् १९२३ में 'संग्राम' नाटक लिखा जिसमें समाजवादी चिन्तन का उल्लेख है तथा इसी वर्ष टाल्स्टाय की कहानियों का अनुवाद 'टाल्स्टाय की कहानियाँ' भी प्रकाशित हुआ।

प्रेमचंद के सर्जनात्मक साहित्य में महात्मा गांधी और मार्क्स के दर्शन का प्रभाव लगभग एक ही समय पर पड़ता है। सन् १९१९ में गांधी ने असहयोग आन्दोलन शुरु किया था और इसी वर्ष प्रेमचंद ने बोल्शेविक उसूलों के कायल होने की बात लिखी थी। इसके तुरन्त बाद उनकी कहानियों और उपन्यासों में इन दोनों का ही प्रभाव आना आरम्भ हो गया, परन्तु इन प्रभावों में जहाँ महात्मा गांधी के चिन्तन-बिन्दुओं का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता है, और समाधान के लिए भी वे गांधी की ओर जाते हैं, वहाँ वे मार्क्सवाद से शोषण-मुक्ति और किसान-मजदूर के शासन का विचार तो लेते हैं लेकिन समाधान और किसी अनुकूल निर्णय के लिए वे मार्क्स या लेनिन की ओर नहीं देखते। यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण साहित्य में एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो मार्क्सवादी दर्शन का प्रति रूप बन सके या समग्रता में उसे प्रस्तुत कर सके। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' (१९२५) का नायक सूरदास ऐसा पात्र है जो गांधी-दर्शन का प्रतिरूप है और उनके अहिंसा सिद्धान्त, धर्म एवं न्याय की लड़ाई, विदेशी सत्ता से असहयोग, औद्योगीकरण का विरोध एवं कृषि जीवन का समर्थन, विचार और आचरण में समानता आदि को जीवन में उतारता है। यह एक प्रकार से मार्क्सवाद पर गांधीवाद की विजय का ही प्रतीक है।

प्रेमचंद के सर्जनात्मक साहित्य में, यदि समाजवाद को जन-सेवा का आधार माना जाये, तो दो प्रकार के चरित्र मिलते हैं। एक जो समाजवाद एवं साम्यवाद के विचारों के बिना भी जनता का निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हैं, तथा दूसरे वे जो समाजवाद और साम्यवाद के विचारों के समर्थक हैं लेकिन आचरण में वे सामन्तवाद और पूँज़ीवाद के अनुयायी हैं। पहले प्रकार के पात्रों में 'पशु से मनुष्य' (फरवरी, १९२०) कहानी का प्रेमशंकर, 'ब्रह्म का स्वाँग' (मई, १९२०) कहानी की वृन्दा, 'प्रेमाश्रम' (१९२२) उपन्यास का प्रेमशंकर तथा 'रंगभूमि' (१९२५) उपन्यास का नायक सूरदास उल्लेखनीय हैं जो समाजवाद के नारे के बिना भी मानवीयता का नया आदर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रेमशंकर उनका ऐसा पात्र है जो 'पशु से मनुष्य' तथा 'प्रेमाश्रम' में समान रूप से मिलता है तथा उसकी चरित्र-रचना भी लगभग समान है। दोनों रचनाओं के प्रेमशंकर अमेरिका से कृषि-विज्ञान का अध्ययन

करके लौटता है। उनका कोई पात्र रूस जाकर लौटकर नहीं आता। प्रेमशंकर कृषि और बागवानी को आजीविका का साधन बनाते हैं। कुछ लोग उनके साथ काम करते हैं, पर कोई मालिक नहीं, मज़दूर नहीं। बस वे मुखिया हैं और अन्य साथियों की तरह ही रहते हैं। वे इस 'सहकारिता' से छोटे-बड़े तथा मोटे-पतले का भेद मिटाकर वर्गों में होने वाले संग्राम को मिटाना चाहते हैं, क्यों कि वे मानते हैं कि 'सहकारिता' ही इस भीषण संग्राम के संकट से मुक्त करा सकती है, पर वे स्वयं को 'सोशलिस्ट' नहीं मानते। प्रेमशंकर कहते हैं, ''मैं 'सोशलिस्ट' या 'डिमोक्रेट' कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। मैं नि:स्वार्थ सेवा को विद्या से श्रेष्ठ मानता हूँ।''[४८] इस प्रकार बोल्शोविक क्रान्ति के बाद जन्मे पात्र प्रेमशंकर भी मार्क्स से प्रेरणा नहीं लेता, बल्कि गांधी के 'न्याय और धर्म' के सिद्धान्त से समतामूलक समाज की रचना में प्रवृत्त होता है। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास का पात्र प्रेमशंकर लेखक के समाजवादी-दर्शन को विकसित करता है और उसे भारतीय रूप देता है। इस उपन्यास में जो खलनायक ज्ञानशंकर है वह साम्यवाद की रूपरेखा बताता है, परन्तु प्रेमशंकर 'साम्यवाद' की चर्चा और प्रेरणा के बिना[४९] ही 'रामराज'[५०] की स्थापना करता है। प्रेमचंद के अनुसार, ज्ञानशंकर अपनी असमर्थता के कारण 'साम्यवादी' बन जाता है, लेकिन उसका नशा जल्दी दूर हो जाता है। ज्ञानशंकर आगे चलकर साम्यवाद की कलई खोलते हुए कहता है, ''सिद्धान्त रूप से हम चाहे इसकी कितनी ही प्रशंसा करें पर उसका व्यवहार में लाना असम्भव है। मैं यूरोप के कितने ही साम्यवादियों को जानता हूँ जो अमीरों की भाँति रहते हैं, मोटरों पर सैर करते हैं और साल में छह महीने इटली या फ्रांस में विहार किया करते हैं।''[५१] यह साम्यवादियों का वह रूप है जो ज्ञानशंकर देख रहे थे, लेकिन अपने भाई प्रेमशंकर का व्यावहारिक साम्यवाद देखकर वह आश्चर्य-चकित होते हैं[५२] कि यह सम्भव कैसे हो पाया। प्रेमशंकर का साम्यवाद इसलिए सम्भव हो पाया क्योंकि वे रूस से नहीं भारत के जीवन-मूल्यों और यहाँ की ज़मीन की आवश्यकतानुसार उसकी रचना करते हैं। प्रेमशंकर 'सन्तोषमय, निष्काम और नि:स्पृह जीवन' जीते हैं जिससे 'शान्ति और सहृदयता' उत्पन्न होती है। वे 'प्रेमाश्रम' की स्थापना करते हैं जो सारल्य, सन्तोष और सुविचार की तपोभूमि' थी। यहाँ न ईर्ष्या का सन्ताप था, न लोभ का उत्साह, न तृष्णा का प्रकोप। यहाँ धन की पूजा न होती थी और न दीनता पैरों तले कुचली जाती थी। ××× यहाँ सब एक-दूसरे के सेवक, एक-दूसरे के मित्र और हितैषी थे।[५३] यही प्रेमशंकर का 'रामराज' है और प्रेमचंद का अंग्रेजी दासता का प्रस्तुत विकल्प। तुलसीदास ने भी मुगलों की दासता के विकल्प के रूप में 'राम-राज्य' का प्रारूप प्रस्तुत किया था। प्रेमचंद का यह 'रामराज' रूस से नहीं भारत की आत्मा से निकलता है। 'प्रेमाश्रम' का जमींदार मायाशंकर इस 'रामराज' को और विकसित करता है। वह अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर देता है और किसानों को उनकी भूमि का स्वामी बना देता है एवं शोषण के सभी दरवाजे बन्द कर देता है। यह गांधी के हृदय-परिवर्तन और ट्रस्टीशिप का प्रभाव है, परन्तु प्रेमचंद इसे अपने समाजवाद का अंग बना लेते हैं। मायाशंकर एक बडा कार्य और करता है।

वह रूसी कम्यूनिज़्म के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि भूमि राज्य की सम्पत्ति है। वह इस धारणा का प्रतिवाद करते हुए कहता है, "भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है।"[५४] इस प्रकार प्रेमचंद अपने प्रेमशंकर और मायाशंकर पात्र से भारतीय समाजवाद का प्रारूप निर्मित करते हैं। यह भारतीय मूल्यों तथा भारतीय जीवन-दृष्टि पर आधारित है, न कि रूसी क्रान्ति पर। 'प्रेमाश्रम' के पात्र बलराज की इस उक्ति से कि 'रूस' और 'बलगारी' में काश्तकारों का राज है, यह उपन्यास रूसी क्रान्ति या मार्क्सवादी चेतना का उपन्यास नहीं बन जाता। हमारे मार्क्सवादी आलोचक यही गलती करते हैं कि एक उल्लेख मात्र को उपन्यास का प्रतिपाद्य बना देते हैं और उसके वास्तविक प्रतिपाद्य को, उसकी आत्मा और मूल सम्वेदना को ओझल कर देते हैं। इस आलोचनात्मक छल से प्रेमचंद मार्क्सवादी लेखक नहीं बन सकते।

प्रेमचंद की एक कहानी है 'ब्रह्म का स्वाँग' इसमें एक नारी पात्र है वृन्दा और उसका पति जिसका नाम 'पुरुष' है। वृन्दा 'स्त्री' के नाम से कहानी में आती है। यह कहानी विवेकानन्द के अद्वैतवाद और प्रेमचंद के वेदान्तीय एकात्मवाद[५५] पर आधारित है। प्रेमचंद विवेकानन्द के शब्दों में कहते हैं कि पश्चिम के समाजवाद की प्रगति देखकर ही सोशाल लीग ने यह नतीजा निकाला है कि समाजवाद विध्वंसात्मक है, लेकिन क्या यह जरूरी है कि योरप के समाजवाद ने जिस नीति को अपनाया, उसे भारत भी अपनाये। योरप में जैसी परिस्थिति थी वैसी भारत में नहीं है। यहाँ तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही से समाजवाद के लिए मैदान साफ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का भेद क्यों?[५६] प्रेमचंद इसी अद्वैतवाद को 'ब्रह्म का स्वाँग' कहानी की नायिका वृन्दा के माध्यम से चित्रित करते हैं। वह इस एकात्मवाद को व्यवहार में उतारती है। उसका पति उसे समझाता है कि हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं। हम सब एक हैं। ऊँच-नीच का भेद करना अन्याय है। वृन्दा इस 'अमृत-वाणी' को सुनकर इसे व्यावहारिक रूप देती है और धोबिन के सिर में तेल लगाकर तथा महरी के साथ बैठकर बर्तन धुलवाती है। वह समझती है कि इनकी आत्मा में भी उसी के समान ईश्वर की ज्योति है। उसका पति इससे दु:खी होता है कि उसकी पत्नी साम्य के सिद्धान्त को व्यवहार में लाती है। वह मानता है कि हम साम्यवाद की प्रशंसा करेंगे, उसके पक्ष में तर्क देंगे परन्तु उसे व्यवहार में लाना असम्भव है। वृन्दा इसके बाद भी वैसा ही व्यवहार करती है। वह नीच स्त्रियों को भद्र स्त्रियों के साथ बिठा देती है और कंगले-भिखारियों को घर की सारी पूरी-मिठाइयाँ बाँट देती है। पति उसकी भर्त्सना करता है और कहता है कि ईश्वर यदि चाहता तो प्राणिमात्र को समान सुख देता और ऊँच-नीच की भेद रहित सामाजिक व्यवस्था बनाता। यह व्यवस्था उसकी आज्ञा से ही चल रही है, अत: ये बेसिर-पैर की बातें, अर्थात् एकात्मवाद की मूर्खता बन्द करो। वृन्दा सोचती है, हम स्वार्थ के लिए ब्रह्म का भी स्वाँग बनाते हैं, लेकिन

वह निराश नहीं होती। उसे विश्वास है, शीघ्र ही यह अन्धकार नष्ट होगा और ब्रह्मज्योति चमकेगी।[५७] इस कहानी में प्रेमचंद वृन्दा के साथ हैं। वह जिस रूप में अद्वैतवाद को व्यावहारिक बनाती हैं, वे उसका समर्थन करते हैं, लेकिन वे उसके पति के साम्यवादी छल को, सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर को बड़े व्यंग्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

प्रेमचंद प्रेमशंकर और वृन्दा जैसे पात्रों के साथ हैं जो मार्क्सवाद को पढ़े बिना उसका पालन करते हैं। इस प्रकार के पात्र प्राय: अशिक्षित, निर्धन और ग्रामीण परिवेश वाले हैं। प्रेमशंकर इसके अपवाद हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास भिक्षुक है, अन्धा है पर जनता का सेवक है, त्यागी है और सब का कल्याण चाहता है। वह अहिंसा का अनुयायी है और औद्योगीकरण का विरोधी है। वह कर्मशील है और गीता के कर्मयोग को जीवन में उतारता है। प्रेमचंद मानते हैं कि भगवान् कृष्ण का कर्मयोग स्वार्थ-मुक्त करके परमार्थ की ओर ले जाता है तथा मातृ-भाव की सृष्टि करता है।[५८] 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर भी कर्मवादी है, लेकिन यह कर्मवाद रूस से नहीं आया है। यह दु:खद स्थिति है कि ऐसे पात्रों की संख्या अधिक नहीं है, सम्भवत: इसलिए भी कि प्रेमशंकर, वृन्दा, सूरदास-जैसे पात्र समाज में कम ही होते हैं और साथ ही इसलिए भी कि हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट उन जैसा जीवन जीना नहीं चाहते। इसी कारण 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर साम्यवादियों पर व्यंग्य करता है और वृन्दा का पति उसे उसके वेदान्तीय एकत्व को व्यवहार में लाने पर फटकार लगाता है। 'रंगभूमि' का प्रभु सेवक भी इसी प्रकार का साम्यवादी है और राजा का बेटा विनय भी। प्रभु सेवक के चरित्र के बारे में तथा उनके साम्यवादी स्वरूप के बारे में प्रेमचंद 'रंगभूमि' में लिखते हैं, ''प्रभु सेवक और कितने ही विलास-भोगियों की भाँति सिद्धान्त रूप से जनवाद के कायल थे। जिन परिस्थितियों में उनका लालन-पालन हुआ था, जिन संस्कारों से उनका मानसिक और आत्मिक विकास हुआ था, उनसे मुक्त हो जाने के लिए जिस नैतिक साहस की, उद्दंउता की जरूरत है, उससे वह रहित थे। वह विचार-क्षेत्र में त्याग के भावों को स्थान देकर प्रसन्न होते थे और उस पर गर्व करते थे। उन्हें शायद कभी सूझा ही न था कि इन भावों को व्यवहार रूप में भी लाया जा सकता है। वह इतने संयमशील न थे कि अपनी विलासिता को उन भावों पर बलिदान कर देते। साम्यवाद उनके लिए मनोरंजन का एक विषय था और बस।''[५९] इसी प्रकार 'रंगभूमि' का विनय भी राजकुमार होते हुए भी साम्यवादी है, लेकिन वह अपने स्वार्थ को छोड़ नहीं पाता। प्रेमचंद उसके बारे में लिखते हैं, ''गाड़ी में बैठते ही उनका साम्यवाद स्वार्थ का रूप धारणा कर लेता है।''[६०] इन भद्र समाज के पात्रों का सामन्तीय संस्कार साम्यवादी होने पर भी समाप्त नहीं होता। प्रेमचंद इस यथार्थता से परिचित हैं। विनय अपनी गोली से आत्म-हत्या करता है, लेकिन सूरदास पुलिस की गोली से मरता है और शहीद हो जाता है। विनय अपने सामन्तीय संस्कारों के कारण सूरदास-जैसी गौरवपूर्ण मृत्यु से वंचित रहता है। जनसेवक और साम्यवादी में यही अन्तर है।

प्रेमचंद की कुछ अन्य कहानियों और उपन्यासों में भी ऐसे ही छद्म- साम्यवादी मिलते

हैं। वे अपनी व्यंग्य की धार से इनके दोहरे चरित्र को उद्घाटित करते चलते हैं। 'हार की जीत' (मई, १९२२) कहानी में प्रो० हरिदास भाटिया साम्यवादी हैं और साम्यवाद पर एक पुस्तक लिख रहे हैं। वे 'सिद्धान्तों के भक्त' थे लेकिन उन्हें व्यवहार में लाना उचित न समझते थे। इसी कारण वे 'धन की अवहेलना' नहीं कर सकते थे। वे अपनी पुत्री लज्जावती के लिए धनी और तालुकेदार शारदाचरण को वर के रूप में चुनते हैं, परन्तु लज्जावती उससे कहती है कि कॉलेज की शीतल छाया में पला हुआ तुम्हारा साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।[६१] 'दो सखियाँ' (फरवरी-मई, १९२८) कहानी का विनोद भी साम्यवादी है। उसे राजाओं से चिढ़ है। वह मानता है कि समाज की सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है।[६२] यह ऐसा साम्यवादी है जो विवाह को अनावश्यक मानता है और स्त्री-पुरुष दोनों को स्वाधीन बनाना चाहता है। वह उन्मुक्त काम का उपासक है, परन्तु जब वह अपनी पत्नी को पर पुरुष के साथ देखता है तो उसका सारा साम्यवाद बह जाता है और आत्म-हत्या की चेष्टा करता है। इस कहानी का अन्त साम्यवादी सिद्धान्तों से न होकर आत्म-समर्पण, सेवा-भाव, सहृदयता और आत्मीयता-जैसे भारतीय जीवन-मूल्यों से होता है। 'पण्डित मोटेराम की डायरी' (जुलाई, १९३४) कहानी में भी मोटेराम के द्वारा साम्यवाद का मज़ाक उड़ाया गया है, जबकि मोटेराम-जैसे ब्राह्मण भी प्रेमचंद के व्यंग्य-बाणों से बच नहीं पाये हैं। 'क़ैदी' (जुलाई, १९३३) कहानी तो रूसी शासक ज़ार के विरुद्ध लेनिन और उसके कामरेडों की हिंसक क्रान्ति पर आधारित है, पर यहाँ भी प्रेमचंद रूसी कम्यूनिस्टों के स्वार्थी धोखेबाज तथा क्रान्ति के झूठे संकल्पों का सत्य उद्घाटित करते हैं तथा यह भी निष्कर्ष देते हैं कि हिंसा से नहीं, मनुष्य अहिंसा, प्रेम और समर्पण से ही बदला जा सकता है। प्रेमचंद हिन्दुस्तानी ही नहीं रूसी कम्युनिस्टों को भी पहचान रहे थे। वे तो निजी सुख और विलास के लिए साथी कामरेड के साथ गद्दारी कर रहे थे और उसके विरुद्ध अदालत में झूठी गवाही दे रहे थे। ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट अपने रूसी कम्यूनिस्ट गुरुओं से भिन्न कैसे हो सकते थे?

यहाँ 'गोदान' में प्रस्तुत हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्टों के चरित्र का विवेचन भी आवश्यक है, क्योंकि हिन्दुस्तान के कम्यूनिस्ट आलोचक मानते है कि 'गोदान' एक मार्क्सवादी कृति है। रूस में कम्यूनिस्टों के शासन के दौरान वर्षों तक 'प्रगति प्रकाशन मास्को' में कार्य करने वाले मदन लाल 'मधु' ने लिखा है कि 'गोदान' की रचना के समय प्रेमचंद ने 'वर्ग-संघर्ष' के सत्य को स्वीकार कर लिया था।[६३] डॉ० शिवकुमार मिश्र का मत है कि १९३१ के बाद प्रेमचंद मार्क्स अथवा समाजवाद के नये यथार्थ, विशेष बुद्धिवादिता और मानसिकता से जुड़ गये थे। इस कारण 'गोदान' में 'क्रान्तिकारी पक्षधरता' तथा 'यथार्थवादी कला का उत्कर्ष' मिलता है। उन्हें अब गांधीवाद नहीं मार्क्स या समाजवाद' अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है।[६४] डॉ० शिवकुमार मिश्र-जैसे अनेक मार्क्सवादी आलोचक 'गोदान' को समग्रता में पढे बिना ही ऐसे निष्कर्ष निकाल लेते हैं। डॉ० नामवर सिंह ने अपने एक भाषण में

कहा था कि कहानीकार (रचनाकार) का विश्वास मत करो, कहानी (रचना) का विश्वास करो।[६५] लेकिन सत्य इसके विपरीत है। ये मार्क्सवादी विद्वान् कई बार प्रेमचंद पर विश्वास करते हैं और कई बार उपन्यास या कहानी पर और वह भी उस अंश पर जिसे ये विद्वान् मार्क्सवाद की स्थापना के लिए उपयुक्त समझते हैं। इनके समीक्षा-शास्त्र की एक विशेषता यह भी है कि ये समीक्षक रचना में विद्यमान मार्क्सवाद के विरोधी वक्तव्यों और प्रसंगों को नहीं देखते और चाहते हैं कि अमार्क्सवादी समीक्षक भी उन्हें नहीं देखें या उनका उल्लेख करें। 'गोदान' का प्रमाण ही यहाँ लेते हैं। 'गोदान' अधिकांश मार्क्सवादी समीक्षकों की दृष्टि में मार्क्सवादी रचना है, लेकिन इस में मार्क्सवाद और हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्टों की जो कटु आलोचना है, उसे ये मार्क्सवादी समीक्षक नहीं देखते। 'गोदान' में प्रो० मेहता एक ऐसे पात्र हैं जिनके विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ० रामविलास शर्मा (विख्यात मार्क्सवादी समीक्षक) ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' में लिखा है कि प्रो० मेहता प्रेमचंद के विचारों के प्रतीक हैं तथा होरी उनकी परिश्रम करने की दृढ़ इच्छा-शक्ति का। डॉ० रामविलास शर्मा ने यह भी लिखा है कि यदि प्रो० मेहता और होरी को जोड़ दिया जाये तो जो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत कुछ प्रेमचंद से मिलता-जुलता होगा।[६६] अब यदि 'गोदान' में प्रो० मेहता साम्यवाद तथा हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्टों की आलोचना करते हैं तथा उन पर व्यंग्य करते हैं तब भी ये कम्यूनिस्ट समीक्षक उसका उल्लेख भी नहीं करते। यहाँ तक कि डॉ० रामविलास शर्मा भी प्रो० मेहता को प्रेमचंद की विचार-सन्तान मानने पर भी प्रो० मेहता के इस पक्ष को पाठकों के सामने नहीं लाते। मार्क्सवादी समीक्षक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त भी यही मानते हैं कि मेहता प्रेमचंद के विचारों के प्रतीक हैं।[६७]

प्रो० मेहता प्रकृति के पुजारी हैं। वर्तमान उनके लिए सब-कुछ है। ईश्वर जीवन, क्रीड़ा, चहक और प्रेम में है। मातृत्व महान् गौरव का पद है। नारी-हृदय धरती के समान है, धैर्यवान्, शान्तिपूर्ण और सहिष्णु। नारी 'वफ़ा और त्याग' की मूर्ति है। मनुष्य के लिए क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं और नारी ने इस आदर्श को प्राप्त कर लिया है। संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। सेवा ही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उत्स है। धन-संग्रह से उसे प्रेम नहीं है। मेहता स्वयं को 'पक्का आदर्शवादी' कहता है, किन्तु दूसरे स्थान पर वह स्वयं को 'आइडियलिस्ट' और 'मेटीरियलिस्ट' दोनों ही बताता है। वह 'समता' को अप्राकृतिक मानता है और ओंकारनाथ को उत्तर देते हुए कहता कि बुद्ध, प्लेटो और ईसा सभी समता के प्रवर्तक थे, पर समता स्थायी नहीं बन सकी।[६८] प्रो० मेहता अपने इन्हीं विचारों के कारण साम्यवाद के समता-सिद्धान्त पर सीधी चोट करते हुए कहता है, "धन को आप किसी अन्याय से बराबर फैला सकते हैं, लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे बड़े का भेद केवल धन से ही तो नहीं होता।"[६९] वह मनुष्य जाति की इस विभिन्नता

को सिद्धान्त का रूप देते हुए यहाँ तक कहता है कि मैं इस सिद्धान्त का समर्थक हूँ कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।[७०] प्रो० मेहता यह तर्क इसलिए देता है क्योंकि वह समता को अप्राकृतिक मानता है। प्रकृति में जो कुछ है वही स्थायी है। प्रो० मेहता हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट और रूसी कम्यूनिज़्म पर भी गहरी चोट करता है। वह अपने समय के कम्यूनिस्टों को देखता है और पाता है कि उनके विचारों और आचरण में घोर अन्तर है। वह रायसाहब की बैठक में होने वाले वाद-विवाद में कहता है, ''मुझे उन लोगों से ज़रा भी हमदर्दी नहीं है जो बातें तो करते हैं कम्यूनिस्टों की-सी, मगर जीवन जीते हैं रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।''[७१] प्रो० मेहता इससे भी कठोर शब्दों में हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्टों पर व्यंग्य करते हुए उनके नकली साम्यवादी चेहरे को उजागर करते हुए कहता है, ''मैं तो केवल इतना जानता हूँ, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं। हैं तो व्यवहार करें, नहीं हैं तो बकना छोड़ दें। मैं नकली ज़िन्दगी का विरोधी हूँ।''[७२] वह रूस के साम्यवाद पर भी चोट करता है और इसे अस्वीकार करता है कि राज कर्मचारियों के मिल-मालिक बन जाने से सामाजिक विषमता समाप्त हो गयी है। वह कहता है, ''आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राज कर्मचारियों का रूप ले लिया है।''[७३]

इस विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं। प्रेमचंद के साहित्यिक रंगमंच पर आने से पूर्व ही देश-विदेश में समाजवाद का विवेचन-विश्लेषण शुरू हो गया था। यहाँ तक कि हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द भी नयी सदी में समाजवाद की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे और राष्ट्र-नायक गांधी भी समाजवाद की अनिवार्यता की स्थापना करते हुए उसे हिन्दू धर्म के जीवन-मूल्यों और मानवीयता के साथ संयुक्त करके राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे थे। विवेकानन्द ने समाजवाद को धर्म और अध्यात्म से जोड़ा और गांधी ने भी उसे धर्म एवं नीति का आधार दिया। इन दोनों विचारकों ने हिन्दू धर्म की नींव पर समाजवाद को परिभाषित किया, लेकिन कार्ल मार्क्स का समाजवाद या साम्यवाद धर्म को अफ़ीम मानता था और उसमें हिन्दू जीवन के मानवीय मूल्यों अहिंसा, सेवा, त्याग, हृदय-परिवर्तन, संस्कारों एवं दुष्प्रवृत्तियों का परिष्कार, साधन की पवित्रता, वाणी एवं आचरण की एकता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सहकारिता, परमार्थ और समष्टिवाद आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। फिर भी इस 'पश्चिमी समाजवाद' का साहित्य भारत में आ रहा था और जवाहर लाल नेहरू, सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव-जैसे नेता समाजवाद की ओर उन्मुख हो रहे थे। प्रेमचंद समाजवाद की इन विभिन्न धाराओं के चौराहे पर खड़े होकर देख रहे थे और वे देशी एवं विदेशी समाजवाद के आदर्शों एवं मूल्यों को समझने की चेष्टा कर रहे थे। प्रेमचंद ने विवेकानन्द, गांधी और मार्क्स को पढ़ा था। विवेकानन्द पर तो उन्होंने लेख लिखा था। गांधी के साथ तो वे असहयोग आन्दोलन से ही थे। मार्क्स की प्रेरणा से रूस में हुई वोल्शेविक क्रान्ति की चर्चा भी वे लगभग इसी समय से कर रहे थे।

जो मार्क्सवादी समीक्षक यह मानते हैं कि प्रेमचंद को मार्क्सवाद का अधूरा ज्ञान था, वे भ्रम में हैं। सम्भवत: वे इसे सिद्ध इसलिए करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि उनके साहित्य में साम्यवाद का शास्त्रीय चित्रण नहीं मिलता। इसका कारण वे उनकी अज्ञानता को मानते हैं, न कि उनकी असहमति और अस्वीकृति को; लेकिन सत्य इसके विपरीत है। उन्होंने सन् १९२५ में मार्क्स का उल्लेख किया और उसके सिद्धान्तों का श्रेय हज़रत मुहम्मद को दिया। उनके साहित्य में मार्क्सवाद की शब्दावली भरी पड़ी है और रूस के कम्यूनिज़्म पर वे यदा-कदा लिखते रहे हैं। उन्हें रूस का कम्यूनिज़्म कुछ क्षणों के लिए मोहित करता है, परन्तु शीघ्र ही उनका भ्रम टूटता है और वे स्टालिन आदि की प्रशंसा करते-करते रूसी कम्यूनिज़्म के समाप्त होने तक की भविष्यवाणी करते हैं। वे कम्यूनिज़्म से शोषण से मुक्ति और समता का विचार लेते हैं, यद्यापि ये विचार भी उन्हें विवेकानन्द, गांधी और अपने युग से मिलते हैं, परन्तु साम्यवाद इन विचारों को और पुष्ट करता है। फिर भी वे मार्क्स और रूसी कम्यूनिज़्म के अर्थ में कम्यूनिस्ट नहीं बन पाते हैं। वे कहते हैं कि मैं कम्यूनिस्ट हूँ पर मेरा कम्यूनिज़्म रूस, गांधी आदि से भिन्न प्रकार का है। वे रूस का कम्यूनिज़्म देख रहे थे जहाँ पूँजीवाद और साम्राज्यवाद कायम था। वे हिन्तुस्तान के कम्यूनिस्टों और समाजवादियों को भी देख रहे थे जो जवाहर लाल नेहरू के समान विचारों से समाजवादी थे, व्यवहार और आचरण से नहीं। वे मानते थे कि विलासमय जीवन जीने वाले ये हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट कभी समाजवाद की स्थापना नहीं कर पायेंगे। इस कारण प्रेमचंद इन हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्टों की कटु आलोचना करते हैं और उन्हें अपने व्यंग्य का शिकार बनाते हैं। अत: प्रेमचंद का समाजवाद निश्चय ही मार्क्स का समाजवाद नहीं है। मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रेमचंद का जन्म सर्वहारा वर्ग में नहीं हुआ था, न उन्होंने सर्वहारा वर्ग के क्रान्ति-दर्शन मार्क्सवाद को पूरी तरह अपनाया था और न उन्होंने कुटीर उद्योगों के स्थान पर मशीनी उद्योग को महत्त्व दिया और न स्वाधीनता आन्दोलन एवं समाजवाद के निर्माण में मजदूर वर्ग की भूमिका को ही स्वीकार किया।[७४] डॉ० शर्मा के ये विचार ही प्रेमचंद के समाजवाद को मार्क्सवादी मुखौटा पहनानने की कुचेष्टा को धराशायी कर देते हैं।

प्रेमचंद का समाजवाद भारतीय था। भारतीयता और भारतीय जीवन-मूल्य, जो हिन्दू संस्कृति की देन हैं, उनके समाजवाद के अंग हैं, अत: डॉ० रामविलास शर्मा के इस विचार में कोई संगति नहीं है कि वे समाजवादी आदर्श के लिए 'राष्ट्रवाद' और किसी हद तक 'कथित भारतीयता' को भी छोड़ने के लिए तैयार थे।[७५] इस निष्कर्ष के लिए वे कोई प्रमाण नहीं दे पाये। यह मार्क्सवादियों की कमज़ोरी है कि वे बिना प्रमाण के फतवेबाज़ी करते हैं और विचारों एवं धारणाओं को उलटने-पलटने और बदलने को भी उचित मानते हैं।[७६] डॉ० नामवर सिंह ऐसा करते रहे हैं, अत: इसे वे सिद्धान्त बना देते हैं। प्रेमचंद जन्म-शताब्दी के अवसर पर हैदराबाद में आयोजित एक गोष्ठी में मेरी उपस्थिति में उन्होंने कहा था कि होरी एक हिन्दू किसान है और यह होरी प्रेमचंद है। मैंने तत्काल खड़े होकर

इस नये चिन्तन का जब समर्थन किया तो वेणु गोपाल ने मंच पर आकर धमकाते हुए कहा कि डॉ० नामवर सिंह बतायें कि वे गोयनका के करीब आये हैं या गोयनका उनके करीब। डॉ० नामवर सिंह इसी शताब्दी के अवसर पर 'हरिश्चन्द्र सभा' की विचार-गोष्ठी में इसके विपरीत मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यदि प्रेमचंद को होरी माना और समझा गया तो मेरा सारा भाषण व्यर्थ हो जायेगा।[७७] यह विचारों और धारणाओं का वैसा परिवर्तन नहीं है, जैसा 'कला प्रयोजन' के इन्टरव्यू में उन्होंने कहा है। यह अवसर और श्रोताओं के अनुकूल और 'वाह-वाही' लूटने की चालाकी है। विचार और धारणा का वास्तविक परिवर्तन तो डॉ० रामविलास शर्मा ने किया था जब उन्होंने आर्यों को इस देश का मूल निवासी घोषित किया, लेकिन उनका यह वैचारिक परिवर्तन डॉ० नामवर सिंह और उनके चेलों को स्वीकार नहीं हुआ। डॉ० नामवर सिंह ने अभी 'आलोचना' का एक अंक रामविलास शर्मा को अर्पित करते हुए उनके इस वैचारिक परिवर्तन को घोर हिन्दूवादी, भगवाकरण का प्रतिरूप बताया। डॉ० नामवर सिंह स्वयं अपनी धारणाओं, विचारों का परिवर्तन करें तो वह साहित्य-नीति के अनुकूल है, लेकिन यदि डॉ० रामविलास शर्मा करें तो वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य हो जाते हैं। प्रेमचंद के सम्बन्ध में भी वामपंथी इसी नीति पर चलते रहे हैं।

प्रेमचंद भारतीय थे और अपने युग के भारतीय पुनर्जागरण के संवाहक थे। वे पश्चिमी संस्कृति और विदेशी विचार से भारत को बचाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने सन् १९२६ में 'प्रेम-द्वादशी' की भूमिका में लिखा था कि वे अपने कथा साहित्य में 'भारतीय आत्मा' को सुरक्षित रखना चाहते हैं। प्रेमचंद का यह विचार उनके साहित्य का केन्द्रिय विचार है और यही उनके विचारों का मूलाधार है। प्रेमचंद महात्मा गांधी के समान यह समझते थे कि भारत में वही जीवन-दृष्टि फलीभूत और स्वीकार्य हो सकती है जो भारत की सनातन दृष्टि से मेल खाती हो। प्रेमचंद निश्चय ही इतिहास, धर्म, परम्परा आदि के उन तत्त्वों के विरोधी थे जिन्होंने मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव, असमानता के साथ शोषण और दमन का चक्र चलाता आया है। हिन्दू धर्म के आडम्बर, अस्पृश्यता, भेदभाव, कर्महीनता आदि के वे घोर आलोचक थे, परन्तु इससे वे हिन्दू जीवन-दृष्टि और उसके सनातन मानवीय पक्ष के भी आलोचक नहीं हो जाते। विवेकानन्द और गांधी ने भी हिन्दू धर्म की बुराइयों की कटु आलोचना की लेकिन बीसवीं शताब्दी की नयी चेतना के अनुकूल जो विचार-दृष्टि एवं मानवीय मूल्य हिन्दू धर्म की सनातन-दृष्टि में थे, वे उन्होंने स्वीकार किये और उनके आधार पर ही उन्होंने भारत की मुक्ति और विकास का दर्शन प्रस्तुत किया। इस प्रकार विवेकानन्द, गांधी और प्रेमचंद लगभग एक ही प्रकार से भारत की सनातन धारणाओं और जीवन-दर्शन के प्रवक्ता और संवाहक थे। प्रेमचंद जिस 'भारतीय आत्मा' को सुरक्षित रखने का संकल्प ले रहे थे, उससे पूर्व स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, स्वामी दयानन्द, गांधी आदि अनेक भारतीय विचारक उसी भारतीय आत्मा, रमेशचन्द्र शाह के शब्दों में 'आत्मा-बिम्ब' को आविष्कृत करने का प्रयत्न कर रहे थे।

प्रेमचंद की इस 'भारतीय आत्मा' में पुरातन भारत के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के साथ धर्म के मानवीय मूल्य और आध्यात्मिक चेतना का योगदान है। उनके अप्रैल, १९३६ के 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन में दिये गये अध्यक्षीय व्याख्यान तक में ये विचार प्रमुखता से मिलते हैं। 'हंस' के अप्रैल, १९३२ में छपे लेख 'जीवन में साहित्य का स्थान' में उन्होंने लिखा कि जीवन और साहित्य का उद्देश्य आनन्द है और सच्चा आनन्द 'सुन्दर और सत्य' से मिलता है। उनके अनुसार, भारतीय साहित्य का आदर्श 'त्याग और उत्सर्ग' में है, 'भोग' और 'अधिकार' में नहीं और इन आदर्शों की सृष्टि 'व्यास और वाल्मीकि' ने की है। भारतराष्ट्र की ये 'सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है।[७८] हिन्दू धर्म में सत्य, नीति, त्याग, सेवा, परोपकार, प्रेम, सहिष्णुता, बलिदान, परमार्थ आदि जो मानवीय मूल्य हैं, प्रेमचंद के जीवन-भर इनकी आत्मा के अंग बन रहे। उन्होंने 'श्रीकृष्ण और भावी जगत' शीर्षक लेख लिखा जो 'कल्याण' के अगस्त, १९३१ के अंक में छपा था। इस लेख में उन्होंने 'धर्म' के सम्बन्ध में लिखा था, "भारत की संस्कृति धर्म की भित्ति पर खड़ी की गयी है। हमारे समाज और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म पर अवलम्बित थी, लेकिन पाश्चात्य देशों में धर्म को जीवन से पृथक् रखा गया, जिसका फल यह हुआ कि आज संसार में जीवन-संग्राम ने प्रचण्ड रूप धारणा कर रखा है, और यह ईश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग की भाँति फैलती जा रही है। जातियों और राष्ट्रों में अविश्वास है, आपस में संघर्ष। स्वामी और मजूर, अमीर और गरीब में भीषण युद्ध हो रहा है। ××× ईश्वरहीन उद्योग में शान्ति कहाँ। ××× ऐसे समय में संसार के उद्धार का एक ही उपाय है और वह है कर्मयोग। ××× हिंसामय जनतन्त्र और हिंसामय एकतन्त्र में विशेष अन्तर नहीं है। आधिभौतिक वाद के धर्महीन तत्त्वों से संसार का उद्धार न होगा। उसमें आध्यात्मिकता की स्फूर्ति डालनी होगी। ××× समष्टिवाद और बोल्शेविज्म उसके (योरप) वह नये आविष्कार हैं जिनसे वह संसार में युगान्तर कर देना चाहता है। उनके समाज का आदर्श इसके आगे और जा ही नहीं सकता था, किन्तु अध्यात्मवादी भारत इससे सन्तुष्ट होने वाला नहीं। वह अपने परलोक को ऐहिक स्वार्थ पर बलिदान नहीं कर सकता। वह अध्यात्मवाद से भटककर दूर जा पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसे एक हजार वर्ष तक गुलामी करनी पड़ी। अब की वह चेतेगा तो संसार को भी अपने साथ जगा देगा और उस व्यापक भ्रातृभाव की स्थापना करेगा जो संसार के सुख और शान्ति का एकमात्र साधन है। अब की इस जागृति में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद मिट जायेगा। समस्त संसार में अहिंसा और प्रेम का जयघोष सुनायी देगा और भगवान् कृष्ण कर्मयोग के जन्मदाता के रूप में संसार के उद्धारकर्ता होंगे।"[७९]

प्रेमचंद 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अधिवेशन में दिये गये व्याख्यान में भी इसी भाव-भूमि एवं चिन्तन-बिन्दुओं की स्थापना करते हैं। वे सत्य, शिव एवं सुन्दर की प्रवृत्तियों की चर्चा करते हैं और लगभग बारह स्थानों पर 'आध्यात्मिक तृप्ति', 'आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता', 'आध्यात्मिक आनन्द', 'आध्यात्मिक भोजन', 'आध्यात्मिक सामंजस्य', 'आध्यात्मिक सुख', 'आध्यात्मिक बन्धन', 'भक्ति, वैराग्य अध्यात्म', 'आध्यात्मिक उच्चता',

'आध्यात्मिक और भागवत सभ्यता' आदि की विभिन्न सन्दर्भों और प्रश्नों की व्याख्या में शब्दों का प्रयोग करके यह स्थापित कर देते हैं कि उनका साहित्य तथा समाजवाद का दर्शन हिन्दू धर्म एवं अध्यात्म की मूल आत्मा पर ही स्थापित है। इस व्याख्यान में मार्क्स, मार्क्सवाद और उसकी शब्दावली किसी की भी चर्चा नहीं है। यहाँ तक कि 'बन्धुत्व और समता' की स्थापना के लिए उन्होंने महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा तथा हजरत मुहम्मद आदि धर्म-प्रवर्तकों का तो उल्लेख किया तथा उन्हें श्रेय भी दिया, किन्तु यहाँ भी उन्होंने मार्क्स का उल्लेख तक नहीं किया। मार्क्सवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने भी सन् १९४१ में प्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचंद' में स्वीकार किया था कि उनके साहित्य-चिन्तन पर 'भारतीयता' का प्रभाव है।[८०] प्रेमचंद की भारतीय समाजवाद की रूप-संरचना में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के व्याख्यान में व्यक्त विचारों को भी हमें ध्यान में रखना होगा। इस व्याख्यान में भी अध्यात्म, नैतिकता और संस्कृति की मानवीय धारणाएँ, मूल्य, आचार-विचार, संस्कार और आस्थाओं को संयुक्त करके जो साहित्य-दर्शन दिया गया है वह उनके भारतीय समाजवाद की रूप-रचना में महत्त्वपूर्ण हिस्सेदारी करता है। अब तो मार्क्सवादी लेखक भी प्रेमचंद के 'यूटोपियाई आदर्शवाद' के साथ धर्म और संस्कृति की अनिवार्यता को स्वीकार कर रहे हैं।[८१] इन मार्क्सवादियों ने देखा कि जो रूस का 'वैज्ञानिक समाजवाद' था वह तो नष्ट हो गया किन्तु प्रेमचंद का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। ओम प्रकाश ग्रेवाल इसी कारण अब समाजवाद में धर्म, संस्कृति और नैतिकता के संयोग के साथ विचार, संस्कार, मूल्य, व्यक्ति की अस्मिता, आस्था, जनतन्त्र आदि को आवश्यक मानते हैं,[८२] लेकिन डॉ० शिवकुमार मिश्र-जैसे मार्क्सवादी अभी 'मार्क्सवादी विवेक' से ही सब कुछ देखना चाहते हैं।[८३] मार्क्सवादी विवेक ईसाई और इस्लाम के समान एकाधिकारवादी विचार है जो अपने अनुयायियों का समाज बनाता है, लेकिन प्रेमचंद का विवेक भारतीय था जो अनुयायी नहीं बल्कि बेहतर मनुष्य और उसके समाज की संरचना के लिए भारतीय समाजवाद की कल्पना कर रहा था। हिंसक क्रान्ति से न तो संस्कृति बदलती है और न समाजवाद के 'मार्क्सवादी यूटोपिया' को स्थायी बनाया जा सकता है। प्रेमचंद अपने 'भारतीय विवेक' से इसे समझ रहे थे और यहाँ के धर्म, अध्यात्म, अहिंसा, सत्य, शिव, सुन्दर, न्याय, नैतिकता आदि के समन्वित रूप पर समाजवाद का स्वरूप निर्मित कर रहे थे। वे स्वतन्त्रता और समाजवाद के लिए 'न्याय और सत्य' के लिए ही लड़ रहे थे और वे इसे 'न्याय और सत्य ही के हथियारों' से लड़ना चाहते थे।[८४] प्रेमचंद ने 'सत्य के मेरे प्रयोग' और 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' या 'कैपिटल'-जैसी पुस्तकें नहीं लिखीं, परन्तु वे हिन्दू संस्कृति की सनातन मानवीय धारणाओं और मूल्यों के साथ युग-जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों को साथ रखकर अपने समाजवाद का प्रारूप प्रस्तुत कर रहे थे। अपने इस 'भारतीय समाजवाद' का स्पष्टीकरण देते हुए उन्होंने 'हंस' के अप्रैल, १९३२ के अंक में स्पष्ट रूप से लिखा था, "कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है, जो वास्तविक रूप में जन-सत्ता चाहती है जो जात-पाँत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है, जो दरिद्र

किसानों के हित को सबसे ऊपर रखती है; विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र को बलवान् बनाना चाहती है; जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है, कि देश का शासन, देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहें, हममें यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भाँति जीवन न व्यतीत करे। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की इच्छानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही धन से पलने वाले कर्मचारी हमीं को कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी संस्कृति का निर्माण आप कर सकें। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैंड (यहाँ वे रूस का उल्लेख नहीं करते-गोयनका) में लोग रहते हैं। इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं, जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं। हम पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटा कर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हो।''[८५]

प्रेमचंद ने स्वराज्य, समाजवाद और धर्म को संयुक्त करके अपने समाजवाद का रूप प्रस्तुत किया। वे हिन्दू के लिए स्पष्ट कहते हैं कि जो समाजवाद का समर्थक नहीं, वह हिन्दू नहीं है।[८६] इस विचार-धारा पर विवेकानन्द और गांधी का प्रभाव है। उनके इस 'भारतीय समाजवाद' पर मार्क्स के प्रभाव को देखना और सिद्ध करना राजनीतिक छल-कपट है। प्रेमचंद की त्रासदी यह है कि उन्हें अब तक उस रूप में प्रस्तुत किया गया, जो वे नहीं थे। प्रेमचंद की दूसरी त्रासदी यह है कि वे भारत की स्वतन्त्रता और कांग्रेसी समाजवाद का चरित्र नहीं देख सके और पहले ही संसार से विदा हो गये। महात्मा गांधी ने तो स्वतन्त्रता देखी, परन्तु उनके समाजवाद की कल्पना उनके जीवन-काल में ही छिन्न-भिन्न हो गयी। प्रेमचंद यदि गांधी के समान स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जीवित रहते तो वे भी अपने 'भारतीय समाजवाद' के महल को ढहता हुआ देख लेते। आज कम्यूनिस्ट लेखक 'रूसी समाजवाद' का विकल्प तलाश कर रहे हैं, लेकिन प्रेमचंद के 'भारतीय समाजवाद' का कोई विकल्प नहीं है। भारत में जब भी समाजवाद आयेगा, जो निश्चय ही एक दिन आयेगा, वह विवेकानन्द, गांधी और प्रेमचंद का 'भारतीय समाजवाद' ही होगा। मार्क्स यदि भारत में पैदा हो तो उसे भी भारतीयता के इसी मार्ग पर चलना होगा। भारत की जनता ऐसी ही है। मानवीयता संस्कृति है, फिर भी कोई नया विचार भारतीय बनकर ही जीवन का अंग बन सकता है।

संदर्भ :

१ 'प्रेमचंद', सरस्वती प्रेस, बनारस कैंट, प्रथम सं० १९४१, पृ० १०९
२ 'प्रेमचंद : विरासत का सवाल' प्रथम सं० १९८१, पृ० ६४
३ 'प्रताप' साप्ताहिक, दिसम्बर, १९२५ का विशेषांक, बाद में 'इंडिया टुडे' साहित्य वार्षिकी, १९९५, पृ० २४-२६ पर पुन: प्रकाशित
४. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड-१०, पृ० ३८७
५. वही, खण्ड-४, पृ० २४३
६. वही, खण्ड-७, पृ० ३५७
७. वही, खण्ड-४, पृ० २५२
८. वही, खण्ड-४, पृ० २४३
९. 'गांधी वाङ्मय', खण्ड-५९, पृ० २३८
१०. वही, खण्ड-६४, पृ० ४२६
११. 'गांधी वाङ्मय', खण्ड-५८, पृ० २२७
१२. वही, खण्ड-२५, पृ० २६९
१३. वही, खण्ड-६४, पृ० ३४८
१४. वही, खण्ड-६९, पृ० ४१०
१५. वही, खण्ड-५८, पृ० २२७
१६. वही, खण्ड-५८, पृ० १२३
१७. वही, खण्ड-६४, पृ० २१६
१८. वही, खण्ड-४५, पृ० ३१७
१९. वही, खण्ड-५८, पृ० १२३
२०. वही, खण्ड-८३, पृ० ३१
२१. वही, खण्ड-४५, पृ० ३१६
२२. वही, खण्ड-६२, पृ० २४५
२३. वही, खण्ड-८३, पृ० ३२
२४. वही, खण्ड-६४, पृ० ३४८
२५. वही, खण्ड-७३, पृ० १९
२६. वही, खण्ड-५८, पृ० २५९
२७. वही, खण्ड-७५, पृ० १७४
२८. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १९३३
२९. वही, २५ सितम्बर, १९३३
३०. वही, २५ सितम्बर, १९३३
३१. वही, ९ अक्टूबर, १९३३
३२. वही, १५ जनवरी, १९३४
३३. वही, २३ अप्रैल, १९३४
३४. 'विविध प्रसंग'-२, पृ० ३०८
३५. वही, पृ० ३४२
३६. वही, पृ० १९८
३७. 'हंस' अक्टूबर-नव०, १९३२
३८. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १९३३
३९. 'हंस', अप्रैल, १९३२

४०. 'विविध प्रसंग'-२, पृ० ७८
४१. 'हंस' सितम्बर,१९३१, संकलित 'विविध प्रसंग'-२, पृ० ८३
४२. 'जागरण', ३ अप्रैल, १९३३
४३. 'चिट्ठी-पत्री-२,पृ० २३७
४४. 'जागरण' ९, अक्टूबर, १९३३
४५.
४६. 'जागरण' ९ अक्टूबर,१९३३
४७. 'गांधी वांङ्मय', खण्ड-४५, पृ० ३१६; खण्ड-६६, पृ० ४७३; खण्ड-६२, पृ० २४५
४८. 'पशु से मनुष्य' कहानी से, 'मानसरोवर'-८, पृ० १०१
४९. 'प्रेमाश्रम', पृ० ३९०
५०. वही, पृ० ४१०
५१. वही, पृ० ३९०
५२. वही, पृ० १४०
५३. 'प्रेमाश्रम', पृ० ३५३ तथा ३८९
५४. वही, पृ० ४०३
५५. 'जागरण', ११ दिसेम्बर, १९३३, 'विविध प्रसंग'-२, पृ०२२५ पर संकलित
५६. वही, पृ० २२३-२४
५७. 'मानसरोवर' खण्ड-८ में संकलित
५८. 'श्रीकृष्ण और भावी जगत' लेख से, 'कल्याण' अगस्त, १९३१ के 'कृष्णांक' में प्रकाशित
६९. 'रंगभूमि', पृ० ४११
६०. वही, पृ० ४३७
६१. 'मानसरोवर'-८ में संकलित 'हार की जीत' कहानी से
६२. 'मानसरोवर'-५ में संकलित 'दो सखियाँ' कहानी से
६३. 'गोर्की और प्रेमचंद : दो अमर प्रतिभाएँ', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९८०, पृ० २९०
६४. प्रेमचंद : विरासत का सवाल, पृ० ६७, ७०, १६९, १७१
६५. प्रेमचंद : विविध आयाम', (सं० डॉ० दिनेशप्रसाद सिंह), में संकलित उनके भाषण से, पृ० २२
६६. 'प्रेमचंद और उनका युग', चौथा संस्करण, पृ० १०६
६७. 'गोदान-विमर्श' सं० महेन्द्र भटनागर में संकलित लेख से, पृ० ३१
६८. 'गोदान', पृ० १८८-९०, २७४, १३५, १४०, १५२-५८
६९. वही, पृ० ५४-५५
७०. वही, पृ० ५४
७१. वही, पृ० ५२
७२. वही, पृ० ५२
७३. वही, पृ० ५५
७४. 'प्रेमचंद और उनका युग', चौथा संस्करण, पृ० १०६, १०९, १६५, २०३
७५. 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ० ११०
७६. डॉ० नामवर सिंह की भेंट वार्ता से, 'कला-प्रयोजन'-२५, जुलाई-सितम्बर, २००१, पृ० २११ उनके अनुसार साहित्य-नीति में विचारों और धारणाओं को बदलना गुनाह नहीं है।
७७. 'प्रेमचंद विविध आयाम', सं० डॉ० दिनेशप्रसाद सिंह में संकलित डॉ० नामवर सिंह के भाषण से।
७८. 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० ३४-३५
७९. 'विविध प्रसंग'-३, पृ० १४१-४३
८०. 'प्रेमचंद', प्रथम संस्करण १९४१, पृ० १ एवं ११

८१. देखिए 'कथन' मासिक पत्रिका में रमेश उपाध्याय, पूरनचन्द्र जोशी आदि के वक्तव्य
८२. 'कथन' मासिक पत्रिका, पृ० ६८-७१
८३. 'कसौटी'-५ मासिक पत्रिका, पृ० १५१-५७
८४. 'समर-यात्रा' में नायक का कथन
८५. 'विविध प्रसंग'-२, पृ० ९१
८६. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १९३३ में प्रकाशित लेख 'हिन्दू सोशल लीग का फ़तवा' से, देखिए 'विविध प्रसंग'-२, पृ० २२४

समीक्षा :

'जनार्दन प्रसाद झा द्विजः स्मृति तर्पण'
संपादक - प्रो० कैलाशनाथ तिवारी
प्रकाशन - श्रीमती नंदबालारानी तिवारी
नवरतन, पूर्णियाँ - ८५४३०१ (बिहार)
सन् २००२ / पृ० सं० - ४००
मूल्य - ७४/- रुपये।

श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' छायावादी युग के यशस्वी साहित्यकार हैं। बहुमुखीप्रतिभा के धनी, साहित्य की अनेक विधाओं के यशस्वी लेखक 'द्विज' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रथम छात्र थे, जिनकी वकृत्व-कला की सानी सभी मानते थे। संयोग से यह वर्ष [सन् २००४] उनका जन्म शताब्दी वर्ष है। उनकी स्मृति में शताब्दी वर्ष में यह प्रकाशन "स्मृति तर्पण" के रूप में प्रशंसनीय प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रंथ पाँच खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में 'संस्मरण' शीर्षक से चौबीस साहित्यकारो के संस्मरण है। द्वितीय खण्ड में 'काव्यांजलि' शीर्षक से पाँच विद्वानों का काव्य में उनके प्रति तर्पण है। तृतीय खण्ड में 'अनुस्मरण' शीर्षक से उनके समकालीन वरिष्ठ साहित्यकारों की स्मृतियाँ संजोई गई हैं। वस्तुतः प्रथम तीन खण्ड उनकी स्मृति में मुख्यतः संस्मरणात्मक शैली में हैं। चतुर्थ खण्ड 'परख-परखाव' शीर्षक से है जिसमें उनके कृतित्व पर बारह सुप्रसिद्ध लेखकों के मूल्यांकनपरख आलेख हैं। पंचम खण्ड 'परिशिष्ट' शीर्षक से है जिसमें संपादक प्रो० कैलाशनाथ तिवारी ने बड़े परिश्रम से कुछ ऐसी सामग्री प्रस्तुत कर दी है, जो सहज में उपलब्ध नहीं होती :
जैसे :

* द्विज जी के पत्र
* सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : शब्द-चित्र
* द्विज जी की कतिपय काव्य रचनाएँ
* 'परित्यक्ता' कहानी
* 'राष्ट्र की उन्नति में बाधाएँ' लेख
* भाषण
* 'अन्तर्जगत्' पर एक दृष्टि : भूमिका
* अंग्रेजी में द्विज जी पर लिखे मूल आलेख—लक्ष्मीकान्त झा तथा कविवर प्रभात।
* शोध पत्रिका 'साहित्य' के अग्रलेख
* शैक्षिक प्रमाणपत्र
* द्विज जी की लोकयात्रा का शिलालेख—संक्षेप में जीवन परिचय।

* द्विज साहित्य की सूची—मौलिक (प्रकाशित-अप्रकाशित)
* द्विज जी का वंशवृक्ष।

इनमें मुख्यत: उनके कृतित्व के विविध पक्ष-कविता, कहानी, शब्द चित्र [रेखाचित्र] लेख, अग्रलेख, भूमिका, पत्र आदि के नमूने दिए गए हैं। अंग्रजी में लिखे हुए आलेखों [श्री लक्ष्मीकान्त झा तथा कविवर प्रभात] के अनुवाद स्वयं सम्पादक महोदय ने यथास्थान दे दिए हैं। वस्तुत: परिशिष्ट में सामाग्री जिस प्रकार संकलित की गई है उससे संपादक महोदय की सूझबूझ का पता चलता है।

द्विज की स्मृति में प्रकाशित इस कृति 'स्मृति-तर्पण' को ठीक-ठीक समझने के लिए ग्रंथ के प्रारंभ में दिये गए 'आमुख' को पढ़ना आवश्यक है जिसके कुछ महत्वपूर्ण अंशों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

'स्मृति-तर्पण' पर:

''स्मृत्यर्चन की प्रक्रिया में कृतित्व और कृतिकार दोनों घुलमिलकर एकमेव हो जाते हैं। वाणी और व्यक्ति, अक्षर तथा कलमकार, कैन्वस और रंगसाज 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये' सदृश प्रतीत होते है।''

'व्यक्तित्त्व पर:

''पुण्यश्लोक द्विज जी कीर्तिलब्ध कवि कथाकार समालोचक संपादक और रेखाचित्रकार थे। वाग्मिता के धनी तो वे थे ही और कई ''प्रथम'' के अधिकारी भी''। × × × काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रथम छात्र .....(XI) कथाकार प्रेमचन्द के प्रथम समालोचक, शोध त्रैमासिक ''साहित्य'' के प्रथम संपादक, पौने दो घंटे का मौखिक भाषण— प्रथम कीर्तिमान स्थापित किया।

पत्र लेखन पर:

संगृहीत पत्रों [पृ० २८८-२९८] के अनुशीलन से द्विज जी की पत्र-लेखन शैली की विलक्षणता का पता चलता है, साथ ही उनकी पारिवारिक व्यथा विनम्रता, तितिक्षा, आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि एवं मानववादी चेतना परित: उद्भाषित होती है।''

नमूने के पत्र निर्मल जी [सम्मेलन पत्रिका के संपादक], शिवपूजन सहाय/बेनीपुरी जी (छह पत्र), केदार नाथ मिश्र प्रभात जी (एक), कवि जयशंकर प्रसाद (दो पत्र), सत्येंद्र नारायण अग्रवाल (तीन), आदि के हैं। साथ ही अनेक संस्मरणों में उनके पत्रों का विवरण भी है।

प० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' (२४ जनवरी १९०४—५ मई १९६४) के संबंध में चौबीस आत्मीय बन्धुओं के संस्मरण प्रथम खण्ड में है जिनमें कुछ उल्लेखनीय है— पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामदयाल पाण्डेय, केदारनाथ मिश्र प्रभात, आरसी प्रसाद सिंह, पं० जयनाथ मिश्र, डॉ० आनन्द नारायण शर्मा और प्रो० कैलाशनाथ तिवारी [संपादक]। संस्मरणों के मध्य ही बॉक्स में प्रेमचन्द द्वारा हंस [१९३३ ई] में प्रकाशित समाचार ''द्विज जी बधाई'' शीर्षक से उद्धृत है। स्पष्ट है कि सन् १९३३ में ही द्विज जी ने एम० ए० की परीक्षा

उत्तीर्ण की थी और इसी वर्ष उनकी "प्रेमचन्द की उपन्यास-कला" शीर्षक आलोचनात्मक पुस्तक भी वाणी मंदिर, छपरा से प्रकाशित हुई। पं० रामदयाल पाण्डेय जी उन्हें 'वामन भगवान' के रूप में मानते थे। सर्वाधिक प्रभावी संस्मरण कविवर मिश्र 'प्रभात' जी का है। प्रभात जी के अनुसार आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व हिन्दी कविता के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। एक नई धारा का प्राणप्रतिष्ठापन किया गया। जिन कतिपय तेजस्वी युवकों ने इस प्रवर्तन को वेगमान् बनाया उनमें से कई दृष्टियों में 'द्विज' जी का महनीय स्थान था। ××× वे सम्यक् विवेचन, सुदृढ़ प्रतिपादन, सविवेक विधान-विनिर्देश एवं यथान्याय निष्पत्ति-निर्णय को ही आलोचना का उद्देश्य और कर्त्तव्य मानते थे। उनके अनुसार समालोचना के लिए स्वस्थ चिन्तन अधिक आवश्यक है, व्यंग्य कम, परिश्रम अधिक अपेक्षित है, परिणाम कम, आचरण अधिक ध्यातव्य है, प्रतिभा का नाटकीय प्रदर्शन कम, प्रतिपाद्य अधिक उल्लेख्य है, आत्मचर्चा कम। ××× [पृ० सं०-११]

छायावादी पंत, निराला, प्रसाद के काव्यों से तुलना करते हुए उनका मूल्यांकन करते हुए व्यक्त किया गया है "छायावाद में प्रथम प्रथम जहाँ कहीं हृदय की वाणी खुली वहीं द्विज जी की वीणा बोली, जहाँ कहीं हृदय की रसधार छलकती, वही द्विज जी कला क्वणित हुई, जहाँ कही मस्तिष्क मानस को चुमने के लिए झुका, वहीं द्विज जी की साधना विश्व-वेदना में परिणत हो गई। द्विज जी ने छायावाद के हृदय-पक्ष का सफल प्रतिनिधित्व किया। ××× द्विज जी का हर गीत एक स्मारक है। ऐसा स्मारक जिसकी हरियाली आँसुओं से धुल कर प्रस्फुटित हुआ करेगी।" [पृ० सं०-१२]

स्पष्ट है कि इस आलेख में संस्मरण कम, मूल्यांकन अधिक है। प्रभात जी का दूसरा आलेख (अनूदित) तो मूल्यांकनपरक ही है। आरसी प्रसाद सिंह का आलेख संस्मरणात्मक शैली में है जिसमें कई पत्र भी उद्धृत किए गए हैं। उन्होने रक्त और अश्रुकण से छन्दोबद्ध पत्र भी लिखा था। [पृ० सं०-१३-४०] समीक्षक के अग्रज और मुक्त जी के कनिष्ठ श्री रमापति शुक्ल का लघु संस्मरण है। उनके द्वारा व्यक्त किये गए विचारों से स्पष्ट होता है कि "उनके (प्रेमचन्द) साप्ताहिक 'जागरण' में झा जी ने कुछ विद्वानों और साहित्यकारों के संबंध में 'चरित्ररेखा' नाम की एक लेखमाला निकाली थी। डॉ० महेश नारायण के संस्मरण में आचार्य शिवपूजन सहाय जी के भी विचार मिल जाते हैं:

"आचार्य शिवपूजन सहाय पूज्य द्विवेदी जी के बाद हिन्दी के प्रबल प्रहरी और उन्नायक थे। द्विज जी पर सन् १९४४ में लिखी उनकी निम्न पंक्तियाँ धातव्य हैं। ..... द्विज जी मूर्तिमान साहित्य हैं। उनके व्यक्तितत्त्व में जो असामान्य माधुर्य है, उनके रहन-सहन में जो कलापूर्ण सौंदर्य है, उनके स्वभाव में जो स्वयंप्रभ स्वाभिमान है, उनकी वाणी में जो अतुल ओजस्विता है, उनके आचारण में जो संयत अनुशासनप्रियता है, वह बिहार की बड़ी अमूल्य सम्पत्ति है।" [पृ० सं०-५१]

न्यायमूर्ति सतीशचन्द्र मिश्र, प्रसिद्ध लेखक आनंद शंकर माधवन, पारसनाथ सिंह, कलक्टर सिंह केसरी, पं० जयनाथ मिश्र आदि के संस्मरण भी हैं। अंतिम संस्मरण ग्रंथ के यशस्वी

संपादक प्रो० कैलाशनाथ तिवारी का है जिनके अथक प्रयासों से यह स्मृति ग्रंथ उनकी जन्म शताब्दी पर तैयार हो सका है। उनके आलेख में उनके साफ-सुथरे व्यक्तित्व की झलक मिलती है:

"(सेंट्रल हिन्दू स्कूल के छात्रावास में) एक स्वतंत्र कमरा। स्वयं भोजन बनाते बरतन-वस्त्र धोते और सफाई करते। बेमिसाल स्वावलंबी कमरा सदैव (स्वच्छ) दपदप करता। कहीं कोई गंदगी नहीं। सभी चीजें अपने अपने स्थान पर व्यवस्थित। उनकी रखी चीजें अगर तिलमात्र भी कोई तितर-बितर कर दे तो वे आगबबूला हो जाते। छोटी-छोटी बातों में भी उनका सौंदर्यबोध और अनुशासनप्रियता प्रतिबिंबित होती थी।" [पृ० सं०-१३१]

द्वितीय खण्ड में द्विज जी पर काव्य रचनाएँ (पाँच) हैं। डॉ० भानुदत्त त्रिपाठी मधुरेश ने 'नमनांजलि' शीर्षक कविता में इस प्रकार भाव व्यक्त किए हैं:

वाङ्मय साधना में लोक समाराधना में
आगे ही बढ़े वे, कहीं नही थमते रहे।

तृतीय खण्ड 'अनुस्मरण' में द्विज जी के समकालीन वरिष्ठ साहित्यकारों—पं० सीताराम चतुर्वेदी, अमृतलाल नागर, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' न्यायमूर्ति पारिख, उदयनारायण तिवारी, पं० जगन्नाथ प्रसाद सर्मा, पं० छविनाथ पाण्डेय आदि की टिप्पणियाँ हैं। श्री लक्ष्मीकान्त झा आई० सी० एस० ने अपने संस्मरणात्मक आलेख (अनूदित) में उनकी वाग्मिता का उल्लेख करते हुए अमेरिका के छात्रों के विचार इस प्रकार रखे:

"मैने अभी-अभी भारतीय वाग्मिता के एक देदीप्यमान विस्फोट को सुना [Brilliant outburst of Indian oratory]"।

इसी प्रकार के विचार उनके हमउम्र डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा, धनवाद (बिहार) के प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन में वह सम्मिलित हुए। उस सम्मेलन में "कई व्यक्तियों के बाद एक व्यक्ति बोलने के लिए खड़े हुए। उनका भाषण इतना ओजस्वी एवं प्रभावपूर्ण था कि समवेत जनता आनंद से झूम उठी। वह व्यक्ति जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' थे।" [पृ० सं०-१४७]। शतक पूरा करने जा रहे पं० सीताराम ने भी अपने अनुस्मरण में उनकी भाषण-कला की प्रशंसा करते हुए लिखा है: "द्विज जी हिन्दी के सुवक्ता तो थे ही, अंग्रेजी में भी उसी ठाठ से बोलते थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पार्ल्यमेंट में अनेक बार मैंने उनके भाषण सुने हैं।" [पृ० सं०-१४४] उनकी वाग्मिता की ओर संपादक महोदय प्रो० तिवारी ने स्वयं संकेत किया है। आग्रेय वक्तृता के कारण उन्हें स्कूल भी छोड़ना पड़ा था। प्रस्तुत ग्रंथ में उनका एक भाषण भी संकलित किया गया है। प्रो० तिवारी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है— "विलक्षण वाग्मिता के कारण वे 'द लिटिल् डाइनेमाइट' के नाम से संबोधित किये जाते थे।" [पृ० सं०-१३०]

चतुर्थ खण्ड 'परख-परखाव' में उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। परिशिष्ट में दी गई साहित्य-सूची के अनुसार द्विज जी की प्रकाशित कृतियाँ आठ थीं जिनमें से दो कविता-संग्रह तथा चार कहानी-संग्रह हैं। मात्र एक आलोचना की पुस्तक 'प्रेमचंद की

उपन्यास-कला' होते हुए इसलिए प्रसिद्ध है कि यह प्रेमचंद साहित्य पर प्रथम आलोचनात्मक कृति है। 'चरित्र-रेखा' शीर्षक से रेखाचित्रों का भी संकलन है। इस खण्ड में बारह आलेख हैं। कृतित्व के अनुसार पाँच-पाँच उनकी काव्य-रचना तथा कहानी कला पर हैं और एक-एक समालोचक तथा रेखाचित्रकार के रूप में। सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० श्यामसुंदर घोष ने अपने आलेख "अनुभूति के कवि द्विज" में विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करते हुए व्यक्त किया है: "द्विज जी अपनी वेदना को 'निर्लिप्त वेदना' कहते हैं और इसे 'मानव जीवन की सबसे उत्तम और मँहगी उपज" मानते है ××× ऐसी वेदना-व्यथा में लालसा की चाह की चिनगारियाँ खेलती रहती हैं। इसमें कवि हृदय की मधुरिमा और महिमा का सर्वथा अभाव रहता है।" [पृ० सं०-१९२] निष्कर्ष रूप में प्रसाद के काव्य से तुलना करते हुए उन्होंने अभिव्यक्त किया है— "प्रसाद-काव्य-सी विकलता, विदग्धता और प्रौढ़ता है। द्विज प्रसाद की तुलना में अधिक लौकिक और सहज बने रहते हैं। वे अपनी पीड़ाओं पर अवगुंठन नहीं डालते, उसे रहस्यमय बनाने की चेष्टा करते हैं। छायावादियों की दुबोधता प्रायः द्विज में नहीं है" [पृ० सं०-१९८]

इसी प्रकार कहानी-कला पर डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, आनंदभूर्ति, प्रो० कान्ति कुमार जैन, डॉ० शत्रुघ्न, डॉ० बहादुर मिश्र के आलेख हैं। आलोचनात्मक पक्ष के अतिरिक्त कुछ नवीन सूचनाएँ भी इन आलेखों से मिलती हैं, जैसे— "प्रेमचंद जी वहीं प्रधान अध्यापक थे जहाँ द्विज विद्यार्थी थे। प्रसाद जी की बगीची की संध्या गोष्ठियों में विनोद शंकर व्यास, राधाकृष्ण दास, रामनाथ सुमन के साथ जनार्दन प्रसाद झा द्विज "के जाने के भी उल्लेख मिलते हैं।" [पृ० सं०-२४६-२४७] डॉ० सूरिदेव का आलेख विशेषतः 'किसलय' की कहानियों पर अधारित है— "द्विज जी ने 'किसलय' की प्रायः सभी कहानियों में भावानुरूप स्पंदनशील गद्य के माध्यम से आभ्यन्तर द्वन्द्व और संघर्ष के विश्लेषण को बड़ी विलक्षणता के साथ परिगुंफित किया है जो उनकी प्रशंसनीय कथाकोविदता का परिचायक है।" [पृ० सं०-२२३]

सभी आलेख शोधपरक हैं। द्विज जी की अधिकांश कहानियाँ अंग जनपद से सम्बद्ध है। 'प्रेमचंद की उपन्यास-कला' पर सुप्रसिद्ध लेखक डॉ० युगेश्वर का आलेख है। द्विज जी के लिखित रेखाचित्रों का संकलन 'चरित्ररेखा' (सन् १९४३) शीर्षक से प्रकाशित हुआ था (यही पहले धारावाहिक रूप से 'जागरण' में प्रकाशित हुआ) जिसमें पन्द्रह साहित्यकारों- द्विवेदी, श्यामसुंदर दास, रामचंद्र, शुक्ल, रत्नाकर, निराला, दिनकर आदि-पर शब्दचित्र हैं जो 'शिवजी भाई' को समर्पित है। इन रेखाचित्रों की यह भी विशेषता है कि प्रत्येक रेखाचित्र के साथ 'पेंसिल स्केच' भी दिए गए हैं जो अधिकतर उपेन्द्र महारथी के बनाए हुए हैं। 'रेखाचित्र' के लिए 'चरित्ररेखा' बड़ा सार्थक शब्द है जो काल के प्रवाह में अन्य शब्दों के साथ समाप्त हो गया। समीक्षक ने स्वयं हिन्दी के रेखाचित्रों पर अपनी पुस्तक 'विधि-विविधा', उभरीः गहरी रेखाएँ आदि में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। 'द्विज' जी इस कला के सशक्त हस्ताक्षर थे जिन पर विस्तृत शोधपरक आलेख डॉ० श्यामसुंदर घोष ने

लिखा है जिसका एक अंश यहाँ उद्धृत है:

"साहित्यकारों को बहुत थोड़े शब्दों में व्यक्त करने का मार्मिक और प्रभावकारी तरीका है। वे उनके रेखाचित्रकार के कुछ बड़े-बड़े 'स्ट्रोक्स' हैं। ऐसे कथनों में वह चरित्र का एक 'फ्रेम' तैयार कर लेने के बाद छोटी-छोटी अनगिनत रेखाओं से वर्ण्य-चरित्र की विशेषताएँ उजागर करते हैं। इससे उनकी तलस्पर्शिनी आलोचना-शक्ति का भी पता लगता है। इस क्रम में वे व्यापक सर्वेक्षण-पद्धति और तुलनात्मक अवलोकन का भी सहारा लेते हैं। जैसे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बारे में लिखते हैं— "हिन्दी के उपासना मंदिर में अनासक्ति योग की इतनी बड़ी क्षमता रखने वाला पुजारी कोई है ही नहीं।" या महादेवी के बारे में उनका कथन— "प्रसाद जी को छोड़कर छायावाद के कवियों में इस परिष्कृत प्रतिभा की प्रतिस्पर्द्धा करने योग्य शायद ही कोई हो? [पृ० सं०-२७७-२७४]

पंचम खण्ड 'परिशिष्ट' पर चर्चा प्रारंभ में की जा चुकी है। संपादक महोदय ने ग्रंथ में यत्र-तत्र पाद-टिप्पणियों में लेखकों द्वारा व्यक्त सूचनाओं को ठीक कर दिया है जिससे भविष्य में किसी को भ्रम नहीं रहे।

अभिनंदन ग्रंथ की तैयारी में जितना उत्साह संपादकों में रहता है, उतना स्मृति ग्रंथों में नहीं। फिर प्रकाशन की विकट समस्या से जूझना पड़ता है। समीक्षक को इन स्थितियों से राहुल सांकृत्यायन की स्मृति में प्रकाशित 'राहुल स्मृति' के संपादन/प्रकाशन के मध्य जूझना पड़ा था। ऐसी स्थिति में प्रो० कैलाशनाथ तिवारी की मानसिक स्थिति की कल्पना मै स्वयं भुक्तभोगी होने के रूप में कर रहा हूँ। निश्चित रूप से भविष्य में कोई-न-कोई सुधी विद्वान 'हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखेगा तो उसको इससे सहायता मिलेगी। जो श्रम-साधना संपादक महोदय ने इसके संपादन तथा प्रकाशन में की हैं उसके लिए उनकी (प्रो० कैलाशनाथ) जितनी प्रशंसा की जाए वह कम है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भी प्रशंसा के अधिकारी हैं जिनके अनुदान से यह यज्ञ सम्पन्न हो सका, जिससे द्विज जी के जन्म शताब्दी वर्ष में पाठक वर्ग लाभान्वित हुआ। निदेशालय की वित्तीय सहायता के कारण ही चार सौ पृष्ठों का ग्रंथ मात्र ७४/- में प्राप्त हुआ। मुख पृष्ठ आकर्षक है। सभी को इस स्मृति-तर्पण के लिए हार्दिक बधाइयाँ।

—कैलाश चन्द्र भाटिया

पुण्य स्मरण :

स्व० पंडित विद्यानिवास मिश्र

पंडित विद्यानिवास मिश्र नहीं रहे। १४ फरवरी, २००५ को वे दिवंगत हो गये। भारतीय साहित्य, संस्कृति, शास्त्र एवं परंपरा के अद्यतन ऋषि तथा आचार्य थे वे। साहित्य को समर्पित था इस संस्कृति-पुरुष का जीवन। लोक-संस्कृति के गहरे पक्षधर एवं भारतीय संस्कृति के सही व्याख्याता थे वे। भारतीय बौद्धिक जगत् तथा भारतीय साहित्य-संसार की विभूति थे पंडित जी। उनके देहवसान से साहित्य को हुई है अपूरणीय क्षति। वस्तुत: भारतीयता के ध्वजवाहक थे पंडित विद्यानिवास मिश्र। भारतीयता के हर पहलू को उजागर कर उसके सनातन तत्वों एवं उसकी वैज्ञानिकता की व्याख्या दी है उन्होंने। अपने नाम 'विद्यानिवास' को अगाध पांडित्य से सार्थक किया था उन्होंने। संस्कृत के नदीष्ण विद्वान् होने के साथ-साथ हिन्दी-अँगरेजी में भी निष्णात थे आप। वस्तुत: संस्कृत के थे विद्वान् वे किन्तु ममत्व हिन्दी से था उनका। बहु आयामी और बहुमुखी व्यक्तित्वाधिपति थे विद्यानिवास जी मिश्र। जुझारू व्यक्तित्व के साथ-साथ अपरिसीमित सदाशयता एवं सत्साहस भी था उनमें। सर्वोपरि स्वदेशीपन का आकर्षक एवं उज्ज्वलतम स्वरूप विद्यमान था विद्यानिवास जी में।

हिन्दी ललित निबंध-रचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ही पश्चात् पं० विद्यानिवास मिश्र जी को पांक्तेय किया जा सकता है। विश्वभारती एवं हिन्दी-भवन के प्रति मिश्र जी के प्रेम एवं सद्भाव को विस्मृत नहीं किया जा सकता। समय-समय पर उनसे सहयोग अवश्य ही हिन्दी-भवन को मिला करता था। हिन्दी-भवन के प्रो० रामसिंह जी तोमर ('विश्वभारती पत्रिका' के पूर्व संपादक) एवं प्रो० सियाराम जी तिवारी से इनके सम्बंध अत्यंत आत्मीय एवं स्नेहल थे। 'विश्वभारती पत्रिका' (खंड-२५; अंक-१-४; अप्रैल १९८४—मार्च १९८५) में इनका 'सहृदय, हृदय-संवाद और रस-निष्पत्ति' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था जो वस्तुत: विश्वभारती में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति-व्याख्यात-माला के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया था।

एक विशेष अवसर पर पं० विद्यानिवास मिश्र जी से दूरभाष पर सम्बंध बनाने का सौभाग्य मुझे भी मिला था। वह अवसर था—दिसम्बर, सन् १९९९ को शांतिनिकेतन में प्रो० सियाराम तिवारी के अभिनंदन समारोह के आयोजन का, जिसमें पंडित जी को अध्यक्ष बन कर उक्त समारोह को अलंकृत एवं गौरवान्वित बनाते हुए तिवारी जी को आशीर्वाद देना था। उन्होंने समारोह में सम्मिलित होने की सहर्ष सम्मति दी; दुर्भाग्यवश गंभीर रूप में अस्वस्थ रहने के कारण आप शांतिनिकेतन आने में असमर्थ रहे।

आज पंडित जी की स्मृति की धरोहर हमारे पास है। वे अपनी कृतियों में एवं यशोराशि में सदा जीवित रहेंगे। अपने सैकड़ों ललित निबंधों, कविताओं, तथा शोध एवं चिंतन-

मनन-समृद्ध दर्जनों मौलिक एवं संपादित ग्रंथों में वे जीवित हैं, जहाँ से आनेवाली पीढ़ियों को प्रेरणा एवं मार्गदर्शन मिलने रहेंगे। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें। 'विश्वभारती पत्रिका' परिवार, हिन्दी-भवन एवं विश्वभारती (शांतिनिकेतन) की ओर से हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—चक्रधर त्रिपाठी

स्व० आचार्य विष्णुकांत शास्त्री

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री का प्रयाण १७ अप्रैल, २००५ को हुआ। वे भक्ति-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्, भक्ति के आधुनिक एवं प्रामाणिक व्याख्याता तथा तुलसी के बहुश्रुत विशेषज्ञ थे। वाग्मिता, विद्वता एवं प्रतिभा के वे विलक्षण संगम थे। शालीनता, मनुष्यता, विनम्रता, गंभीरता और निर्मल सदाशयता से शास्त्री जी का सौम्य व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। विधायक, सांसद और राज्यपाल के रूप में उन्होंने समस्त पदों का गौरव संवर्धन किया था। वस्तुत: नयी पीढ़ी के लिए वे प्रेरणा-पुरुष थे। साहित्य सदा-सर्वदा उनके जीवन का अभिन्न अंग बना हुआ था। वे वेदांत-साधक, छात्र-वत्सल प्राध्यापक, कवि, आलोचक, लेखक, राम-भक्त, गीता के अध्येता, भारतीयता के पक्षधर और निर्विवाद राज-पुरुष थे। श्रद्धेय विष्णुकांत जी ने अपने जीवन को यज्ञ के रूप में स्वीकारा एवं उसका निर्वाह किया। शास्त्री जी को राम की शरणागति में अखंड विश्वास था। अपने मुक्त, मधुर, निस्पृह और विद्वेषरहित स्वभाव के कारण वे मनोमालिन्य एवं विवादों के पंक में भी कमल की तरह स्वच्छ तथा स्वतंत्र रहे। दैन्य एवं पलायन उनके स्वभाव में नहीं था; किन्तु दूसरों के दृष्टिकोण को समझते और उसे आदर देने की अद्‌भुत क्षमता समन्वयशील एवं सामंजस्यकारी विष्णुकांत जी शास्त्री में थी। किसी को पीड़ा पहुँचाना शास्त्री जी की प्रवृत्ति के विरुद्ध था। उनका अध्ययन फलक भी विस्तृत था। शास्त्री जी शीलवान् थे जिससे वे सर्वप्रिय बने हुए थे। अपने प्रतिपक्षी विद्वानों का भी वे आदर करते थे। काव्य-आवृत्ति उनकी बड़ी खूबी थी और विद्या-व्यसन तो उनको था ही। उनकी पन्द्रह मौलिक कृतियाँ, तीन अनूदित रचनाएँ एवं सात संपादित ग्रंथ प्रकाशित हैं।

विश्वभारती से आपका सम्बंध प्राचीन और प्रीतिकर रहा है। प्रो० रामसिंह तोमर, प्रो० सियाराम तिवारी से आपके सम्बंध अत्यंत आत्मीय रहे हैं। हिन्दी-भवन की पाठ-समिति के बाह्य सदस्य के रूप में तथा विविध अवसरों पर आयोजित संगोष्ठियों में भी भाग लेकर आपने हिन्दी-भवन को सहयोग दिया था। विश्वभारती की उच्चतर समितियों के भी आप सदस्य थे। आपने सन् १९९९ के दिसम्बर में शांतिनिकेतन में आयोजित प्रो० सियाराम तिवारी अभिनंदन समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में भाग लेकर समारोह को सुशोभित एवं गरिमामंडित किया था। उस समय आप हिमाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल के पद पर आसीन थे। 'विश्वभारती पत्रिका' (खंड-४१; अंक-३-४; अक्टूबर २०००—मार्च २००१) में आपका 'योग की गीतोक्त परिभाषाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। इस समय आप उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल थे।

शास्त्री जी कृतिजीवी रहे हैं। अपनी बहुमूल्य कृतियों में वे निश्चय ही अमर रहेंगे एवं नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा-पुरुष प्रमाणित होंगे। आपने राष्ट्र को, समाज को परिवार को, मित्रों को और छात्रों को कितना कुछ दिया है; इसी के पुण्य-स्मरण से हम अपनी

कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं। पत्रिका परिवार, हिन्दी-भवन एवं विश्वभारती (शांतिनिकेतन) की ओर से हम आपको विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, ईश्वर आपकी आत्मा को शांति दें।

—चक्रधर त्रिपाठी

एक सूचना

अपने ऐतिह्य तथा लक्ष्य को यथासाध्य अक्षुण्ण रखती हुई 'विश्वभारती पत्रिका' समय के साथ ताल मिलाकर आगे बढ़ रही है। पर कुछ अनिवार्य कारणों से इसकी यात्रा कभी स्तब्ध तो कभी मंथर हो जाती है। सम्प्रति इसके प्रकाशन की मंथरता इतनी बढ़ गई है कि यह समय से लगभग तीन साल पीछे पड़ गई है। फिर भी सहृदय पाठक अपनी उदारता से इसके प्रकाशन को शक्ति तथा गति देते आ रहे हैं। इस तीन साल की दूरी को कम करने या भरने की भरसक कोशिशें करने पर भी सफलता नहीं मिल पा रही है। अत: अनन्योपाय होकर हमें संयुक्तांक निकालने का प्रयास लेना पड़ रहा है। इससे पत्रिका कुछ ही दिनों में अपनी अद्यतन कड़ी को अपना लेगी। आशा है, इस योजना को पाठकवर्ग सहजता से अपनायेंगे।